

लोकविद्या पंचायत

- सूचना युग में बराबरी के विचार के पुनर्निर्माण का पत्र ●
- लोकविद्याधर समाज के पुनर्संगठन का वैचारिक आधार पत्र ●
- पूंजी आधारित समाज के स्थान पर ज्ञान आधारित समाज के निर्माण का विचार पत्र ●

वर्ष 1, अंक 4, कुल पृष्ठ : 8

5 अगस्त 2011

सहयोग राशि : 5 रुपये

न्यायालय के फैसले और किसानों का हित

पिछले कुछ दिनों से भूमि अधिग्रहण का परिदृश्य कुछ बदल रहा है ऐसे संकेत आ रहे हैं। उच्चतम न्यायालय और इलाहाबाद उच्च न्यायालय दोनों ने ही दिल्ली के निकटवर्ती ग्रेटर नोएडा क्षेत्र के किसानों के लिये राहत के फैसले दिये हैं। ग्रेटर नोएडा के शासन और प्रशासन को फटकार लगाई है, बिल्डरों की योजनाओं को धक्का लगे ऐसे फैसले दिये हैं। अब के हापुड में (उ.प्र.) में चमड़ा उद्योग के लिये भूमि अधिग्रहण के खिलाफ याचिका की सुनवाई में उच्चतम न्यायालय ने यह कह दिया कि भूमि अधिग्रहण कानून खत्म किया जाना चाहिये। दूसरी तरफ केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्रालय में हाल ही में नेतृत्व परिवर्तन हुआ है और एक नये भूमि अधिग्रहण कानून का प्रस्ताव सामने आया है जो पुराने कानून के अंतर्गत किसानों पर की जा रही ज्यादतियों से उन्हें मुक्त करेगा ऐसा दावा सरकार कर रही है। नोएडा दिल्ली के बगल में है और वहाँ की हर हलचल राष्ट्रीय मीडिया में प्रकट होती है और बाकी जगहों की तुलना में अधिक महत्व की बन ही जाती है। भूमि अधिग्रहण में जो ज्यादाती नोएडा में की गई है उससे कई गुना ज्यादाती देश के कई इलाकों में बहुत पहले से हो रही है। आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, उत्तर प्रदेश व और राज्यों में भी ग्रामीण इलाकों में

सैकड़ों ऐसे स्थान हैं जहाँ निजी कंपनियों और सरकार के द्वारा जमीनें हड़पने और किसानों व आदिवासियों को बेदखल करने की क्रियायें बेलगाम चल रही हैं। अखबार में तो खबरें तभी आती हैं जब विरोध के संघर्षों पर लाठी-गोली चलती है और लोग अपनी जान गवाँ बैठते

अगस्त 3-5 के बीच दिल्ली में जंतर-मंतर पर 'संघर्ष' द्वारा आयोजित धरने में 15 राज्यों से आये हुए 4500 से अधिक लोगों ने यह मांग की कि 1894 का भूमि अधिग्रहण कानून तुरंत खत्म किया जाय और एक समग्र राष्ट्रीय विकास नियोजन कानून बनाया जाय। उन्होंने अपनी जमीनें सरकार या निजी बिल्डरों को कभी न देने का संकल्प लिया।

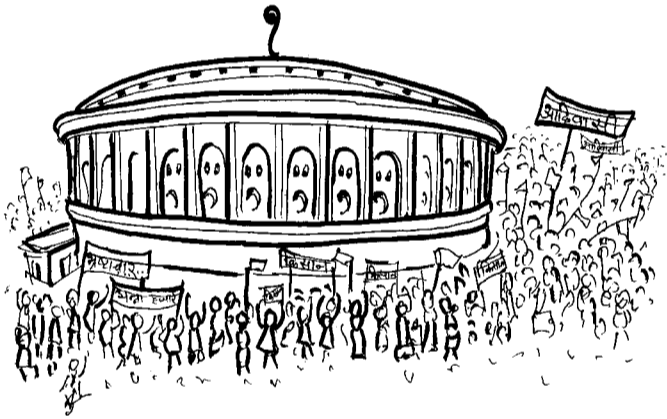
हैं। क्या इन सब जगहों पर अदालतों के फैसलों और सरकार की नई भूमि अधिग्रहण नीति का असर आयेगा इसकी उम्मीद की जा सकती है?

जमीनें हड़पने का यह देशव्यापी कार्यक्रम उदारीकरण और निजीकरण की अर्थनीति का ही हिस्सा है। यह कैसे हो सकता है कि

एक तरफ उदारीकरण, निजीकरण व विदेशी निवेश को जोरशोर से बढ़ावा दिया जाय और दूसरी ओर जमीनों का हड़पना बन्द हो जाय। नोएडा का किस्सा अलग है। वहाँ के किसान 5000 से 10,000 रुपये प्रति वर्गमीटर तक मुआवजा चाहते हैं। दस हजार रुपये प्रति वर्गमीटर, यानि दस करोड़ रुपये प्रति हेक्टेयर, यानी लगभग चार करोड़ रुपये प्रति एकड़, यानी ढाई करोड़ रुपये से ज्यादा प्रति बीघा, यानी लगभग 13 लाख रुपये प्रति बिस्वा। जहाँ बाजार की यह हालत है क्योंकि बिल्डर उन जमीनों पर बहुमंजिली इमारतें बनाने वाले हैं, वहाँ के संदर्भों में अदालत ने फैसले दिये हैं। इन फैसलों का असर उन इलाकों पर भी पड़ेगा जहाँ एक लाख रुपये प्रति बीघे की दर से जमीनें ले ली गई हैं और लोगों को बेघर कर दिया गया है यह सोच पाना बहुत मुश्किल है। जमीन बचाने की लड़ाई देश के दूर-दराज में फैले हुये किसानों और आदिवासियों की जिन्दगी की लड़ाई है। हाल में हुये चन्द अदालती फैसले और सरकार द्वारा नई भूमि अधिग्रहण नीति का प्रस्ताव केवल भ्रम पैदा कर रहे हैं। किसानों और आदिवासियों के पक्षधरों को ऐसे भ्रमों और झूठों से सावधान रहने की जरूरत है। न सरकार की नीति बदल रही है और न विस्थापन रोकने के कोई आसार हैं। विस्थापन रोकने के संघर्षों में व्यापक आपसी एकता बने इसकी जरूरत दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है।

रोटी और संसद

एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
में पूछता हूँ—
'यह तीसरा आदमी कौन है?'
मेरे देश की संसद मौन है।



जन आंदोलन बनाम दिल्ली

देश एक बड़ी हलचल से होकर गुजर रहा है। भ्रष्टाचार और भूमि अधिग्रहण को लेकर पूरे देश में हलचल है। क्षितिज पर बदलाव की किरणें दिखाई दे रही हैं। कितना और कैसा बदलाव? यह चर्चा में आना शुरू हो गया है। ज्यादातर लोग समझते हैं कि भ्रष्टाचार से मुक्ति के लिए व्यवस्था में बड़ा परिवर्तन होना होगा, सार्वजनिक सामाजिक मूल्यों, व्यक्तिगत आकांक्षाओं और सफलता के मानकों में बड़ा परिवर्तन होना होगा। भूमि अधिग्रहण कानून रद्द करने की मांग अंततोगत्वा उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की अर्थनीति रद्द करने की मांग है। भूमि अधिग्रहण बंद होने का अर्थ है कि संसाधन के क्षेत्र में जमीन, उत्पादन के क्षेत्र में कृषि, समाज में किसान और ज्ञान के क्षेत्र में लोकविद्या, ये सब अभी के अपने दायम दर्जे के स्थान से उठकर नंबर एक के हो जाएंगे। हमें ये सब चाहिए। लेकिन क्या रोज-रोज दिल्ली में दस्तक देने वाले आंदोलन इस मुकाम तक ले जा सकते हैं? संघर्ष के तरीकों में शांतिप्रियता, अहिंसा, भागीदारी, लोकतांत्रिक तरीके, अनुशासन इत्यादि पर बहस चलती रहती है, लेकिन क्या बात है कि दिल्ली को चुनौती देने के लिए हमें बार-बार दिल्ली जाना पड़ता है। क्या इसमें कहीं दिल्ली के प्रति हमारा मोह निहित है? क्या इसमें ऐसी कोई सोच निहित है कि दिल्ली पर कब्जा करके इस देश को अच्छा और रहने लायक बनाया जाएगा? गहन जांच की जरूरत है।

गांधीजी तो संघर्ष करने के लिए दिल्ली नहीं ले जाते थे। सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट पार्टियाँ भी दिल्ली अपना संघर्ष लेकर कम ही जाती थीं। विनोबा और जयप्रकाश के आंदोलन भी क्षेत्रों में ही हुए। 1980 के बाद उठा देश व्यापी किसान आंदोलन भी अपने संघर्ष को दिल्ली में जाकर नहीं छेड़ता रहा। हां, इन सबमें भी अब बार-बार दिल्ली जाने का रुझान देखा जा सकता है। जो आंदोलन किसानों के हैं, आदिवासियों के हैं, क्षेत्रीय मध्यम वर्गों और गरीब लोगों के हैं, वे बार-बार दिल्ली क्यों जाएं? दिल्ली जाने से तथा संघर्ष दिल्ली में केन्द्रित होने से गरीब वर्गों की पहल कम होती है और नेतृत्व का एक खास प्रकार विकसित होता है, अंग्रेजी बोलने वाला ज्यादा पढ़ा-लिखा और महानगरीय संस्कृति को समझने वाला। इतना ही नहीं, इस नेतृत्व में इस सबके प्रति एक आकर्षण और मोह भी बना रहता है। अगर बुनियादी परिवर्तन चाहिए तो विश्वविद्यालय, अंग्रेजी इंटरनेट और दिल्ली का मोह टूटना ही होगा।

कैसा बदलाव चाहिए?

कांग्रेस इस देश के बड़े पूंजीपतियों की पार्टी है। उसे सत्ता से हटाकर ज्यादा लोगों की भागीदारी स्थापित करने के प्रयास पहले भी हो चुके हैं। 1967 में जब किसानों तथा क्षेत्रीय लोगों का कांग्रेस से मोहभंग हुआ तब कई राज्यों में कांग्रेस को हार का मुंह देखना पड़ा। 1977 में यह बहुत बड़े पैमाने पर हुआ और केन्द्र से भी कांग्रेस का शासन जाता रहा। 1989 में भी यही हुआ। पहली बार किसानों के हित, क्षेत्रीय असंतोष और छात्र आंदोलन में बदलाव का आधार था। दूसरी बार आपात स्थिति से तंग आए लोगों ने लोकतंत्र के नाम पर बदलाव लाया। और तीसरी बार सामाजिक न्याय के नाम पर पिछड़ी जातियों की गोलबन्दी ने कांग्रेस को हार का मुंह दिखाया। इन सब बदलावों के चलते क्षेत्रीय राजनीति को बढ़ावा मिला, किन्तु वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण की अर्थनीति ने केन्द्र की सत्ता को बढ़ा दिया और अधिकांश क्षेत्रीय दल केन्द्र के साथ समझौते में ही जिन्दा रहने के रास्ते ढूंढ़ पाए। इसी के साथ आर्थिक प्रश्नों पर राजनीतिक ध्रुवीकरण समाप्त-सा हो गया। सभी राजनीतिक दल एक ही अर्थनीति के समर्थक हो गए। और अपने-अपने संकीर्ण हितों में संसदीय लोकतंत्र की व्यवस्थाओं को मजबूत करते चले गए। हर परिवर्तन में व्यवस्था परिवर्तन के नारे लगे और सत्ता में नए चेहरों और नए दलों के शामिल होने के अलावा व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उल्टे संसदीय लोकतंत्र द्वारा पोषित भ्रष्ट व्यवस्था ही मजबूत होती गई। इसलिए अभी चल रहे आंदोलनों में व्यवस्था परिवर्तन पर व्यापक बहस चलनी चाहिए। संसदीय लोकतंत्र के विकल्प पर विचार-विमर्श का मन बनाना जरूरी है। इस सिलसिले में गांधीजी और उनका विचार बहस के केन्द्र में आए तो रास्ता निकल सकता है।

यह लिखते-लिखते खबर आ रही है कि अन्ना ने, उनके साथियों ने और तमाम शहरों में आंदोलन के कार्यकर्ताओं ने सरकारी लोकपाल विधेयक को सड़कों पर आम लोगों के बीच जलाया। अन्ना की ओर से यह साफ किया गया कि उनके जन लोकपाल विधेयक और सरकारी लोकपाल विधेयक में जमीन-आसमान का अंतर है। प्रधानमंत्री का लोकपाल के दायरे में होना जरूरी है, लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण

सड़क बनाम संसद विस्तार पाता भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन

अन्ना हजारों का जन लोकपाल आंदोलन एक बार फिर सड़कों पर है। सरकार द्वारा अपने लोकपाल बिल को केन्द्रीय मंत्रिमंडल में पारित करके संसद में पेश करने के ऐलान के बाद अन्ना हजारों और उनका समूह फिर से सड़क पर उतर आए हैं। अन्ना ने ऐलान किया है कि वे 16 अगस्त से दिल्ली में जन लोकपाल विधेयक के पक्ष में आमरण अनशन पर बैठेंगे। व्यापक जनसम्पर्क के कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। विभिन्न शहरों में अन्ना के समर्थन में लोगों द्वारा सड़कों पर उतरना शुरू हो गया है। कई केन्द्रीय नेताओं के संसदीय क्षेत्रों में जनमत संग्रह की प्रक्रिया चलाई जा रही है। संसद की प्रक्रियाएं जन लोकपाल विधेयक की पक्षधरता का कोई संकेत नहीं दे रही हैं। देशभर में एक बहस का माहौल है। अन्ना का कहना है कि सवाल व्यवस्था और नीयत का है। सरकार की न तो नीयत साफ है और न वह भ्रष्टाचार पर लगान कसने की कोई व्यवस्था ही बनाना चाहती है। लोगों की उम्मीद इस आंदोलन से बढ़ती ही जा रही है। सिविल सोसायटी के नाम पर शुरू हुआ आंदोलन विस्तार पाने को उत्सुक दिखाई देता है। चार महीने पहले अप्रैल में जंतर-मंतर में शुरू हुए इस आंदोलन पर बहुत लोगों ने मीडिया और उच्च मध्य वर्ग द्वारा बनाए जाने का आरोप लगाया था। अब इस आरोप की जगह भी बहुत सीमित हो गई। आज आंदोलन में कौन-कौन भाग ले रहे हैं यह महत्वपूर्ण जरूर है किन्तु आंदोलन की समझ उसकी गति का स्वरूप देखकर बनाई जाती है। वर्तमान आंदोलन की गति विस्तारोन्मुख है और आधार नैतिक व सबके हितों से जुड़ा हुआ है। फिर भी यह तो मना नहीं किया जा सकता कि आंदोलन का नतीजा वही तय करते हैं जो उसके भागीदार होते हैं। यह आंदोलन एक ऐसी प्रक्रिया शुरू होने का एहसास दिलाता है जो व्यवस्था के परिवर्तन की बात को वास्तविक बना सके। ईमानदार और सही नीयत वालों को समयांतर में इस देश की बागडोर संभालने के मुकाम तक ले जा सके।

बात यह है कि जन लोकपाल विधेयक आम जनता का है और गांव-गांव व कस्बों और नगरों तक फैले सारे सरकारी कर्मचारियों को अपने दायरे में लाता है। सरकारी लोकपाल बिल, उल्टे भ्रष्टाचारियों को सुरक्षा प्रदान करता है और भ्रष्टाचार के खिलाफ शिकायत करने वालों की धर-पकड़ का प्रावधान करता है।

लोक संगीत : परम्परा एवं निर्वाह

बुन्देलखण्ड क्षेत्र के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. (श्रीमती) स्मिता सहस्रबुद्धे, कमला राजा कन्या महाविद्यालय, ग्वालियर

“संगीत” मानव की भावनाओं के सम्प्रेषण का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा। अपनी समस्त चेष्टाओं के साथ मन की आंतरिक स्थिति को सहज रूप से प्रगट करने में संगीत का स्थान सर्वोपरि है। दर्शन की अवधारणा को लें तो जन्म से मृत्यु तक ऐसा कोई भी मानव संस्कार नहीं है जिसमें वाद की अभिव्यंजना कहीं न होती हो। जन्म का “बधाई” गीत हो या मृत्यु का “राम नाम सत्य”। है तो नादमय ही, चाहे उसका रूप अलग-अलग क्यों न हो। इतना ही नहीं, प्रकृति के कण-कण में, बहते झरनों में, मदमस्त बयार में भी प्राकृतिक रूप से नाद की, संगीत की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए जीवन के इतने निकट रहने वाली यह कला जन-जन में रच बसकर प्रकट होती है।

भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जनमानस की यह कला ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में दिव्य तथा पार्थिव अर्थों में दिखाई दी। संगीत की दृष्टि से प्राचीन काल में मार्गी एवं देशी गान की परम्परा का निर्वाह होता रहा। सीधे सरल शब्दों में कहा जाये तो मार्गी संगीत शिष्ट समाज में, अभिजात्य वर्ग का सूचक रहा, तो देशी संगीत जन-सामान्य में, सरल भाव से आनन्द का प्रतीक रहा। वास्तव में देखा जाए तो संगीत की परम्परा सुदीर्घ है चाहे वह मार्गी संगीत हो अथवा देशी संगीत। इसी परम्परा का स्वरूप आधुनिक युग तक आते-आते शास्त्रीय एवं लोकसंगीत की धाराओं में प्रस्फुटित हुआ। दोनों ही पक्ष अनादि काल से समकक्ष रहे हैं एवं परस्पर प्रेरणा ग्रहण करते रहे। मेरी ऐसी मान्यता है कि समाज के बौद्धिक और भावात्मक तत्त्व जब निकट आते हैं तो ललित कलाओं का स्तर बढ़ता है और यह बात संगीत पर भी लागू होती है। समाज के हर स्तर की भावात्मक परिधि जितनी उच्च होगी जनमानस की कलाएँ उतनी ही उभरकर प्रस्तुत होंगी और सामाजिक विसंगतियों का दुराव समाप्त हो सकेगा। भारत में सामाजिक स्तरों में विषमता होने से संगीत की दृष्टि से शास्त्रीय एवं लोक संगीत की परम्परा में गहरी खाई नजर आती है जिसे भावात्मक एवं बौद्धिक समानता से ही पाटा जा सकता है।

अब आलेख के दूसरे पक्ष अर्थात् बुन्देलखण्ड के विषय में अपनी बात रखती हूँ। “बुन्देलखण्ड” जिसका अस्तित्व पुरातत्व-उत्कीर्ण लेखों तथा वैदिक पौराणिक ग्रंथों में भी मिलता है, लोक कला की दृष्टि से अत्यन्त भरा-पूरा प्रदेश रहा। कहते हैं सन् 830 ई. में महाराज ननुक ने बुन्देलखण्ड में चन्देलवंश की नींव रखी थी परन्तु सन् 863 ई. में कौकल्लदेव ने बुन्देलखण्ड में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। तथापि 13वीं शताब्दी तक आते-आते यह प्रदेश छोटी-बड़ी रियासतों में बँट गया जहाँ, गौंड, तोमर, खंगार, बुंदेले, मराठा और फिर अंग्रेजी शासन का भी प्रभुत्व रहा। इस संक्षिप्त ऐतिहासिक जानकारी के उपरान्त बात बुन्देलखण्ड प्रदेश के विस्तृत क्षेत्र के लोक-संगीत की। यह बात प्रत्येक क्षेत्र के लोकगीतों के विषय में निर्विवाद रही है कि लोकगीत एवं संगीत, प्रचार में सहज रूप से निकले मन के उद्गार रहे हैं जो एक मुख से दूसरे मुख तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी परम्परा का निर्वाह करते हैं और जिनके रचयिता अज्ञात रहते हैं। लोकगीतों में मौखिक परम्परा का ही निर्वाह होता है। यही स्थिति बुन्देलखण्ड

अंचल की भी है। अंचल के ग्रामों एवं समुदायों के निवासी अपनी भाषा या शब्दावलि में गीतों की लड़ी पिरोते हैं, जो बोलियों के “प्रवाह” में तैरते कंठ के “घाट” तक पहुँच कर प्रचलित हो जाती है। जहाँ-जहाँ टकराती है फिर बहने लगती है। मुझे ऐसा लगता है कि लोकगीत एक विशाल नदी के समान होते हैं, जिसके प्रवाह में छोटी-छोटी नदियाँ आकर मिल जाती हैं और उसे बहुत गहरा और चौड़ा कर अपना सम्पूर्ण अस्तित्व उसमें विलीन कर देती हैं। बुन्देलखण्ड की अंचल के लिए कहते हैं “सौ दण्डी और एक बुन्देलखण्डी”। अत्यन्त परिश्रमी एवं मेहनती यहाँ का ग्रामीण हमारी सांस्कृतिक धरोहर को सतत अपनी अमूल्य सम्पदा सहज भाव से देता रहा। अपने श्रम की “टेर” को “नाद” के “आह्लाद” में परिणित करता यह ग्रामीण अनजाने में ही एक ऐसा कम्पोजर बन जाता है जिसे आज की दौड़ का, चकाचौंध से भरा अभिजात्य संगीतज्ञ अपने सृजन में समेटने का लोभ संवरण नहीं कर पाता।

अस्तु, बुन्देलखण्ड क्षेत्र में इसी परम्परा के चलते जो प्रमुख लोकगीतों के प्रकार हैं उनमें बुन्देलखण्डी भजन, नित्य उपयोगी गीत, त्यौहार एवं अवसर विशेष के गीत, संस्कार गीत एवं ऋतुपरक गीत यत्र-तत्र गाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस परिक्षेत्र में हरदौल बाबा के गीत भजनों की ही तरह गाये जाते हैं। कहते हैं यहाँ बाबा हरदौल एक ऐसे देवतुल्य व्यक्ति हुए जिन्होंने अपनी भाभी माँ की रक्षा के लिए भाई द्वारा किये गये शक को दूर करने हेतु विषाक्त खीर पीकर अपने प्राणों को त्याग अपनी भाभी माँ की रक्षा की। तभी से इनकी प्रशस्ति भरे गुण-गान यहाँ के लोग इनके भजन गाकर कहने लगे। ईश स्तुति में देवी-भजन, भोले शंकर के भजन, राम-गीत, कृष्ण गीत, हनुमान-गीत, के अतिरिक्त पशुओं के देवता “कारस देव” के भजन भी गाये जाते हैं।

नित्य उपयोगी गीतों की श्रेणी में वे गीत समाहित हैं जो ग्रामीण क्षेत्र में कार्य करते समय महिलाएँ एवं पुरुष वर्ग गाते हैं। इसीलिए इन गीतों में गोबर से कंडे थापते समय की “थप-थप”, कपड़े धोते समय की “छप-छप”, बैलों के गले की “टुन-टुन” जैसी शब्दावलियों का प्रयोग दिखाई देता है।

ग्रामीण परिवेश का समाज आज भी अपने संस्कारों की परिधि में बँधा है। भारतीय संस्कारों का निर्वाह सम्भवतः लोकगीतों में इसीलिए छलका दिखाई देता है। जन्म के समय “सोहर”, “बधावा”, विवाह के समय “लगुन”, “बनरा-बनरी”, तो लगभग बुन्देलखण्ड क्षेत्र में गाये ही जाते हैं, साथ ही कुछ गीतों में पूरे बुन्देलखण्ड को अयोध्या मानकर गीतों को लोक परम्परागत धुनों में गाने की परम्परा है। यह अंचल देश के अन्य क्षेत्रों की तरह ऐसा क्षेत्र है जहाँ के हर मौसम को स्त्रियों गीतों से भर देती हैं। खेतों में खिले “बसंत के फूल”--मानों धरती पीला परिधान पहने हो ऐसे में बुन्देलखण्ड के ग्रामीण बड़े स्वाभाविक रूप से गाते हैं—

“अब दिन आये बसंती नीरे, ललित और रंग भीरे।

टेसू और कदम फूले हैं, कालिन्दी के तीरे।

भारतीय कला में लोक व राजपक्ष

नीहार रंजन राय

बहुत हाल तक भारत की अर्थव्यवस्था मूलतः और मुख्यतः ग्रामीण कृषि की थी। अधिकांश लोग गाँवों में रहते थे और इन गाँवों के चारों ओर ही उनका सारा जीवन घूमता रहता था। इसी परिवेश में लोगों की कल्पना तथा दृष्टि का मुख्य रूप से निर्माण होता था। जाति व्यवस्था पर आधारित सामाजिक संगठन में उनका जीवन परिचालित होता था। इस प्रकार का सामाजिक संगठन ही ग्रामीण कृषि समाज की धुरी था। इस संगठन के दो चेहरे थे और दोनों दो दिशाओं की ओर उन्मुख थे। एक चेहरा पुरोहितपंथी हिन्दू-ब्राह्मण, बौद्ध-जैन, मुस्लिम-ईसाई लोगों द्वारा संगठित और व्यवस्थित धर्म तथा समाज के विचारों और आदर्शों, उद्देश्यों और आकांक्षाओं, देवी-देवताओं, रीति-रिवाजों, आदतों-व्यवहारों तथा मिथक और आख्यानों का प्रतिनिधित्व करता था।...

दूसरा चेहरा आवश्यकता का था और यह गाँवों की ओर उन्मुख था जहाँ के अधिकांश लोगों ने अपना जीवन ही वहाँ की मिट्टी से जोड़ रखा था। ये लोग साधारण तथा गरीब थे और पढ़े तो नहीं थे मगर कढ़े थे। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि वे निरक्षर तो थे किन्तु अशिक्षित नहीं, न ही उनमें बुद्धि का अभाव था। अपने कार्य और जीवन में उनका वास्तविक अनुभव किसान या कारीगर का था तथा गीतों, नाटकों, सामाजिक-धार्मिक उत्सवों, वार्तालाप-विचार-विमर्श गायन आदि सम्प्रेषण की प्राचीन पारम्परिक रीतियों में वे अपने सदियों से संगृहित ज्ञान और बुद्धि का कुछ अंश हृदय में करते थे, उनका प्रतिपादन करते थे और अपने अनुसार उनका प्रयोग करते थे।

ग्रामीण कृषि व्यवस्था पर आधारित ये समाज किसी भाँति गाँव या कस्बों में रहने वाले उच्च वर्गों तथा जातियों से कटे हुए नहीं थे... लेकिन उनका हितसाधन करने के लिए बाध्य थे।

हालाँकि यह भी अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि प्रभुत्वशाली वर्गों तथा उच्च जातियों का, चाहे वे हिन्दू ब्राह्मण, बौद्ध या जैन या मुसलमान कुछ भी हों, सभी चीजों पर नियंत्रण होने की वजह से कला और साहित्य में उन्हीं की अभिव्यक्ति को अन्ततोगत्वा प्रमुखता मिली।

और उसे ही उच्च कला या भारतीय कला में महान परम्परा की संज्ञा मिली और दूसरी ओर लोककला अकेली अपनी अन्तर्धारा में ही दबी रही।

इस प्रकार एक ओर भारत की तथाकथित जनजातीय या लोक कला और दूसरी ओर उच्च कला या कला की मुख्यधारा के बीच जो रीतिगत और तकनीकी अन्तर है वह बदलती हुई उन सामाजिक और आर्थिक स्थितियों के क्षेत्र तथा स्तर से पैदा हुआ है जो सदियों से भारत में निर्मित होती रही। इसे बहुत दूर तक नहीं खींचा जाना चाहिए क्योंकि इतिहास के किसी भी स्थल पर ऐसा नहीं हुआ है कि श्रेष्ठ या मुख्यधारा के तथाकथित जनजातीय या ग्रामीण कला के प्रभावों और प्रतिप्रभावों से सभी सम्बन्ध लुप्त हो गये हों।... ऐसा लगता है कि वस्तुतः वह आदिम और ग्रामीण कला ही भारतीय रचनात्मक उद्यम की मुख्यधारा का जैविक भण्डार थी। इस बात के प्रमाण भी मिलते हैं कि नये जीवन की प्रेरणा और उत्साह के लिए समय-समय पर ऐसे उद्यमों के भण्डारों का उपयोग किया गया है।

अतः पुनरुक्ति की सम्भावना होते हुए भी मैं यह कहूँगा कि भारतीय कला के किसी भी वस्तुनिष्ठ इतिहासकार को आवश्यक रूप से समाजशास्त्रियों या सामाजिक नृत्यशास्त्रियों के उस तर्कसम्मत मानदण्ड का अनुसरण नहीं करना चाहिए जिसके अनुसार पृथक श्रेणियों के रूप में जनजातीय, ग्रामीण, सभ्य और उच्च का वर्गीकरण और चरित्र विश्लेषण किया है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ये भेद कई और विभिन्न हैं। लेकिन ये उस तरह के भेद नहीं हैं जैसे भेद विशुद्धता और सौष्ठव, सूक्ष्मता और कृत्रिमता, जटिलता और सुबोधता, उच्चस्तरीय तकनीकी ज्ञान और अनुभव एवं दृष्टि और कल्पना में होते हैं।

भारत में तथाकथित राजनीतिक या राजवंशीय इतिहास लेखन की जो पद्धति बहुत कुछ आज तक भी प्रचलित है, उसी का अनुसरण करके भारतीय कला के इतिहास का काल-निर्धारण राजवंशों के नाम से करने की व्यापक किन्तु अविवेकपूर्ण परिपाटी चल पड़ी है।

बसते रात नहीं पै, मजे में पण्डा धीरे।

“ईसुर” कात नार बिरहन पै, पिक पिक रच्च पीरे।”

बुन्देलखण्ड परिक्षेत्र वीर-वीरांगनाओं का भी क्षेत्र रहा है। यहाँ की वीरता को आल्हा गायकी के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। आल्हा गायकी वह प्राचीन गायकी है जिसमें आल्हा-ऊदल के वीरता के गीत ढोल-तासा, दुमदुम, टिमकी, चंग, धौसा, नौबत, शंख, तुरई आदि वाद्यों के साथ पूरी वीरता से खड़े होकर गाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ इस क्षेत्र के पास नरवर क्षेत्र है। यहाँ राजा नल के पुत्र इन्द्रसेन जो ढोला नाम से जाने जाते हैं और इन्हीं की वीरता के गीत “ढोलामारू” के गीत कहे जाते हैं। इस गीत को “चिकाड़ा” नामक तंतू वाद्य के साथ गाया जाता है।

सबसे महत्वपूर्ण एवं अनोखा गीत प्रकार इस क्षेत्र का है “लेद”। कहते हैं “लेद” गायकी का जन्म दतिया में हुआ और फाग में इसे गाने की प्रथा है। श्रृंगारिक एवं भक्तिपरक भावों को दर्शाती यह एक तरह से राग निबद्ध एवं तालबद्ध शास्त्रोक्त मानी गयी है। यहीं पर इस बात का उल्लेख करना चाहूँगी कि भारतीय शास्त्रीय संगीत के मूल के दर्शन इस ग्रामीण अंचल की लेद गायकी में दिखाई देते हैं। ‘धमार’, ‘ख्याल’, ‘ठुमरी’, ‘दादरा’, ‘अब्दा’ जैसी भारी भरकम शास्त्रीय शैलियों के रूप बड़े सहजभाव से ग्रामीण लेद गायकी में गाये जाते रहे हैं। “दादरा” या “कहरवा” द्रुत लय में स्त्रियों द्वारा “फाग” में गाये जाने वाला “लेद” का प्रकार कहीं भी भव्य मंचीय प्रस्तुतियों से कम नहीं आंका जा सकता। परन्तु तीव्र वेदना एवं व्यथा से यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि आज ऐसी दुर्लभ गायकी संरक्षण, संवर्द्धन के अभाव में लुप्तप्राय सी हो रही है। बात मात्र लेद गायकी की ही नहीं है वरन् ग्राम्यांचलों में जुड़ी गायन क्षेत्र की यह लोक परम्परा चकाचौंध में कहीं डूबती-सी जा रही है। एक ओर अपसंस्कृति का हमला तो दूसरी ओर “आधुनिक” कहलाने के लिए पश्चिमीकरण का प्रभाव। इन दो पाटों के बीच जन-जन में बसा लोक संगीत अपने मूल्यों से भटक रहा है और यह बिखराव निश्चित ही चिंतनीय है। वस्तुतः जनमानस के सरल हृदय से निःसृत होने वाली इस विधा को पुनः जीवित करने की महती आवश्यकता है, तभी हम अपनी चिर प्राचीन सांस्कृतिक चेतना की जीवंतता का आभास कर पायेंगे। निःसन्देह बुन्देलखण्ड की इस कला के लिए मध्य प्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद ने बुन्देलखण्ड के राई नृत्य के कलाकारों को संरक्षण दिया है यह स्तुति-तुल्य प्रयास है। अकादमी के पास लोकगीतों का ऑडियो रिकार्डिंग भी है और लोक प्रदर्शनकारी कलारूपों को स्तरीय मंच सम्मान हेतु केन्द्रीय समारोह का आयोजन भी इस दिशा का सराहनीय प्रयास है।

आकाशवाणी ग्वालियर ने “बाजे बुंदेली के बाजे” नाम से एक सात भागों का संगीत रूपक स्व. पं. महेश कुमार मिश्र ‘मधुकर’ के मार्गदर्शन में प्रसारित कर लोक कलाकारों को मंच प्रदान किया। इन्हीं के द्वारा “लोक वाद्य कचेरी” लोक कलाकारों को मंच पर लाने का एक उत्कृष्ट कार्य किया जा रहा है। जिससे अभिजात्य समाज के समक्ष ये सच्चे किन्तु अत्यन्त सरल उच्च कोटि के परम्परागत लोकवाद्य कलाकार प्रस्तुत होते हैं।

अस्तु, इस आलेख के बहाने मैंने बुन्देलखण्ड क्षेत्र की लोकगीतों की परम्परा के अध्ययन का एक छोटा-सा अध्याय प्रस्तुत करने का तुच्छ प्रयास मात्र किया है। यदि इस क्षेत्र के लुप्त हो रहे लोकगीतों, लोक वाद्यों एवं लोक कलाकारों के लिये समाज में आकर्षण होता है तो यह मेरे अध्ययन की सार्थकता होगी, ऐसा मेरा मंतव्य है।

कला कार्यशाला

इन्दौर जनपद के गाँवों में अगस्त के उत्तरार्द्ध से एक कला-कार्यशाला की श्रृंखला शुरू की जा रही है। लोकविद्या विचार से प्रेरित इन कार्यशालाओं में ग्रामीण कला-प्रतिभाओं द्वारा विभिन्न कलाकृतियों की प्रस्तुति, जिसमें संगीत, नाट्य, काव्य, कथा, शिल्प आदि सम्मिलित है, भी होगी। मुख्य रूप से संजीव कीर्तने के प्रयास से संयोजित इन कार्यशालाओं में कला की विभिन्न विधाओं से जुड़े कलाकारों की भागीदारी का प्रयास होगा। इन कला कार्यशालाओं में लोकविद्या और लोकविद्याधर समाज की शक्ति को बहस का मुद्दा बनाया जाएगा। चूंकि सूचना युग में लोकविद्या का शोषण बड़े पैमाने पर हो रहा है और कला-क्षेत्र में इसकी पहचान भी बहुत स्पष्ट की जा रही है। ऐसे में कलाकारों की जिम्मेदारी भी है कि इस चेतना के लोकस्थ रूपों के साथ एका बनाएं। इस कार्यशाला के दौरान कई सवाल खड़े किए जाएंगे। कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं :

- * लोगों की शक्ति कहां है?
- * लोकविद्या में कला की अवधारण क्या है?
- * हमारी विद्या के स्रोत कहां-कहां हैं?
- * क्या किसान, कारीगर, आदिवासी और महिला समाज ज्ञानी है? क्या उनके ज्ञान को समाज में प्रतिष्ठा मिले उसके रास्ते बनने चाहिए?
- * क्या आधुनिक समाज की सोच में लोकविद्याधर समाज एक बोझ है?
- * ज्ञान के व्यवसायीकरण और पूंजी को लोकविद्या बुनियादी चुनौती दे सकती है।

स्वयं को यह स्मरण दिलाना यहाँ श्रेयस्कर होगा कि भारत में हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई मानसिकता और चेतना की समग्रता में इस प्रकार का कोई भेदभाव नहीं है और इस तरह की कोई चीज नहीं जो भारतीय जनसाधारण की मानसिकता को विभ्रंशित कर दे।

भारतीय कला का अध्ययन से साभार

क्या सिनेमा की विधा लोकविद्या का अंग हो सकती है

मिहिर पण्ड्या, शोध छात्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

“हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है!” — *‘अशोक के फूल’*, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

‘लोक’ से जुड़ी अपनी किसी भी समझदारी की चर्चा करते हुए मैं पहले हजारी प्रसाद द्विवेदी को उद्धृत करता हूँ। संस्कृति और साहित्य का यह महान अध्येता ‘लोक’ को लेकर मेरी तमाम समझदारी का आधार स्तंभ है और आज जब हम इस प्रश्न पर विचार करने बैठे हैं कि सिनेमा जैसा माध्यम, जिसे अपने उद्गम से ही आधुनिक और शहरी कला माध्यम के रूप में चिह्नित किया गया है, क्या वह ‘लोक’ का हिस्सा बन सकता है? तो यहां फिर द्विवेदी जी और उनकी ‘लोक’ की अवधारणा से बात शुरू करना समीचीन होगा। जैसा ऊपर उद्धृत अंश से स्पष्ट है, द्विवेदी जी की लोक की अवधारणा इकहरी नहीं है, उसका अर्जित ज्ञान सैकड़ों सालों में विभिन्न देखे-अनदेखे स्रोतों से हासिल हुआ है और इस ज्ञान के पीछे जो एक सिद्धांत काम करता है, जो एक सूत्र एक बहुवचनीय सभ्यता इतिहास को आपस में साथ पिरोता है, वह है मनुष्य की अदम्य जीवनी शक्ति।

जब हम स्वयं सिनेमा को एक ‘लोकविद्या’ के रूप में अपनाए जाने के प्रश्न पर विचार करते हैं तो यहां हमें इसकी जड़ें वहां तलाशनी होंगी जहां सिनेमा ने मनुष्य की इसी जीवनी शक्ति से जुड़कर, प्रेरणा पाकर अपने आपको उसके अनुकूल बनाया है। उन हाशिए के इलाकों में उसे तलाशना होगा जहां वह प्रतिरोध की विधा बनी है, संचय की विधा बनी है, बेशक इसके लिए हमें सिनेमा के पारंपरिक ढांचों से बाहर निकलना होगा।

सच है कि सिनेमा पर ऐसी कोई भी चर्चा आज भी उदाहरणों से ज्यादा संभावनाओं की चर्चा है। लेकिन सिनेमा की तकनीक के बदलने के साथ ही इन संभावनाओं को जैसे पंख लग गए हैं। संजय जोशी, जिन्हें उत्तर भारत में ‘प्रतिरोध का सिनेमा’ नामक उस क्रांतिकारी शुरुआत का श्रेय हासिल है, जिसने एक बड़े समाज के लिए सिनेमा को देखने का नजरिया ही बदल दिया, इस तकनीकी के बदलाव को बड़े साफ शब्दों में समझाते हैं, “वीडियो तकनीक के आने से पहले फिल्म निर्माण का सारा काम सेल्युलाइड पर होता था। सेल्युलाइड यानि सिल्वर ब्रोमाइड की परत वाली प्लास्टिक की पट्टी को रोशनी से एक्सपोज करवाने पर छवि का अंकन नेगेटिव पर होता, फिर यह फिल्म लैंब में धुलने (रासायनिक प्रक्रिया) के लिए जाती। यह समय लेने वाली और तमाम झंझटों से गुजने वाली प्रक्रिया थी।

आज से पन्द्रह साल पहले तक 11 मिनट की शूटिंग के लिए फिल्म रोल और धुलाई का खर्चा ही आठ से दस हजार रुपये था। अब इसमें किराया भाड़ा भी शामिल करें तो खर्चा और बढ़ जाएगा। गौरतलब है कि यह अनुमान 16 मिलिमीटर के फॉरमैट के लिए लगाया जा रहा है। सेल्युलाइड के प्रचलित फॉरमैट 35 मिमी में यह खर्चा दुगुने से थोड़ा ज्यादा होगा। फिर शूटिंग यूनिट में कैमरापर्सन, कम से कम दो सहायक और साउंड रिकार्डिस्ट की जरूरत पड़ती और सारे सामान के लिए एक मंझोली गाड़ी और ड्राइवर।

इसके उलट वीडियो में आज की तारीख में आप 100 रुपये में 40 मिनट की रिकार्डिंग कर सकते हैं। दोनों माध्यमों में एक बड़ा फर्क यह भी है कि जहां सेल्युलाइड में आप सिर्फ एक बार छवियों को

अंकित कर सकते हैं वहीं वीडियो के मैग्नेटिक टेप में आप अंकित हुई छवि को मिटाकर कई बार नई छवि अंकित कर सकते हैं। वीडियो की यूनिट सिर्फ एक व्यक्ति भी संचालित कर सकता है। 1990 के दशक के मध्य तक न सिर्फ वीडियो कैमरे सस्ते हुए, बल्कि कम्प्यूटर पर एडिटिंग करना भी आसान और सस्ता हो गया। वीडियो तकनीक ने बोलती छवियों की विकास यात्रा में एक क्रांतिकारी योगदान प्रदर्शन के लिए सुविधाजनक और किफायती प्रोजेक्टर को सुलभ करवाकर किया। सम्भवतः इन्हीं सारे तकनीकी बदलावों के कारण 1990 के बाद भारतीय डॉक्यूमेंट्री फिल्म जगत में लम्बी छलांग दिखाई देती है।”

संजय जोशी का यह उद्धरण यहां इसलिए भी समीचीन है क्योंकि इस बदलती तकनीक के सहारे ही उन्होंने उत्तर भारत के आधा दर्जन से ज्यादा शहरों में ‘प्रतिरोध का सिनेमा’ शीर्षक से होने वाले सालाना फिल्म समारोहों की एक शृंखला खड़ी कर दी है। 2006 मार्च में गोरखपुर से शुरू हुआ यह सफर अब लखनऊ, पटना, बलिया, नैनीताल, भिलाई जैसे विभिन्न शहरों में अपने पैर जमा चुका है। इसने अपने विकास के साथ विश्व सिनेमा और बेहतर डॉक्यूमेंट्री सिनेमा देखने की जो समझदारी अपने दर्शक वर्ग के बीच विकसित की है वह अद्वितीय है। और जिस संदर्भ में हम सिनेमा और लोकविद्या का नाता तलाश रहे हैं, उसे लेकर भी यहां कुछ मजेदार प्रयोग होते देखे जा सकते हैं।

आयोजन के तीसरे-चौथे साल में संजय एक नया प्रयोग करते हैं। वे उत्सव के दौरान कुछ साथियों को उत्सव की गतिविधियों पर ही एक फिल्म बनाने का जिम्मा सौंपते हैं। इनमें से कई स्थानीय साथी हैं जिनके लिए यह इस तरह सिनेमा निर्माण का पहला और अपने आप में अनोखा अनुभव है। तकनीक की सुलभता के साथ सिनेमा किस तरह सर्वसुलभ माध्यम बन सकता है, इसका एक सीधा संकेत इस प्रयोग में छिपा है। इसी प्रयोग को आगे बढ़ाते हुए डॉक्यूमेंट्री फिल्म मेकर नितिन ‘जे.एन.यू. के जनकवि’ के रूप में विख्यात रमाशंकर यादव ‘विद्रोही’ पर फिल्म बनाते हैं। यह अपने आप में इस अनूठे व्यक्तित्व का और उसकी कला का डॉक्यूमेंटेशन भी है। ‘विद्रोही’ जी आधुनिक व्यवस्था की तमाम सहूलियतों अपनी इच्छा से नकार चुके हैं और उन्होंने अपनी कविताएं कभी प्रकाशित भी नहीं करवाईं। स्मृति में संचयन की परंपरा पर चलते हुए ‘विद्रोही’ जी की कविताओं में आक्रोश और समाज में व्याप्त गैर-बराबरी के विरुद्ध तीखा विद्रोह भरा है।

यहीं झारखंड के फिल्मकार मेघनाथ भट्टाचार्य याद आते हैं जिन्होंने न सिर्फ सिनेमा को अपनी बात कहने का माध्यम बनाया, बल्कि इस कला को अन्य लोगों तक पहुंचाने की जिम्मेदारी भी बखूबी उठाई है। इस साल के राष्ट्रीय पुरस्कारों में मेघनाथ और बीजू टोप्पो की बनाई दो फिल्मों ‘एक रोपा धान’ और ‘लोहा गरम है’ को रजत कमल से नवाजा गया। मेघनाथ और बीजू से दो साल पहले हुई मुलाकात में मैंने देखा कि किस तरह मेघनाथ अपने साथ फिल्म समारोह में झारखंड के क्षेत्रीय इलाकों से आए उन लड़कों को भी लेकर आए थे जिन्हें वे आगे जाकर फिल्मकार के तौर पर देखते हैं। इस नई पीढ़ी से ही यह उम्मीद की जा सकती है कि फिल्म निर्माण की तकनीक सीखने के बाद यह उस तकनीक का इस्तेमाल पहले से उनके स्थानीय समाज में मौजूद लोकविद्या से जोड़कर कर पाएंगे।

पर प्रहार निरंतर बढ़ते ही जा रहे हैं। सामान्यजन न्याय के लिये, संगठन व संघर्ष के लिये किस ज्ञान को आधार बनायें? सामान्यजन, रचना और कलाकार के बीच ज्ञान के रिश्ते कैसे हों? इनके बीच की दूरी कैसे कम होगी? संवेदना और ज्ञान के बीच रिश्ता कैसा है? सहज कला व साहित्य इन्हीं सवालियों का जवाब खोजने के सामाजिक चिंतन का अभियान है।

साहित्य और कला विद्या का वह रूप है जो किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों की निजी विद्या नहीं होती। बल्कि सामान्य मनुष्य की जीवन दृष्टि का मूर्त रूप होती है। प्रत्येक मनुष्य (स्त्री व पुरुष) में कला का कोई न कोई रूप अवश्य होता है। इसी के बल पर कला प्रत्येक मनुष्य को ज्ञान (विद्या) के क्षेत्र में सीधे दखल ले पाने की सहज क्षमता प्रदान करती है। ज्ञान (विद्या) के संगठित क्षेत्रों से जब सामान्यजन स्त्री व पुरुष, बाहर खड़े जा रहे हों ऐसे में सहज कला सामान्य मनुष्य को विद्यागत दखल लेने का अधिकारी होने की मान्यता देता है। सहज कला व साहित्य का मोटा परिचय इस प्रकार है—

1. सहज कला व साहित्य, सहज ज्ञान, सहज बुद्धि, सहज भाषा, सहज दृष्टि के सृजन को प्रतिष्ठा देता है। सामान्य मनुष्य की जीवन दृष्टि (लोकविद्या) को प्रतिष्ठा देता है।
2. सहज कला वंचित, पीड़ित, शोषित सामान्य जन की सत्य और न्याय की आकांक्षाओं का आईना होता है।
3. सहज कला अमानवीय सत्ता, व्यवस्था, विचार, ज्ञान आदि के खिलाफ निरंतर संघर्ष में सत्य के आग्रह को प्रभावी बनाता है।
4. सामान्य जीवन की नित-नवीनता और सहज कला-साहित्य के बीच रचनात्मक आपसी सम्बन्ध होता है।

सहज कला व साहित्य अपने समय की वास्तविकताओं को, भ्रम और षडयंत्रों को, मायावी विचार और व्यवस्थाओं को, मनुष्योचित मूल्यों और कार्यों को सरलतम रूपों में सामने लाता है। और ऐसा करते समय सहजता से वे संकेत दे जाता है जो मनुष्योचित समाज निर्माण के बुनियादी दर्शन का बीज हो सकते हैं।

यहीं मेरी बीजू टोप्पो से भी लम्बी बातचीत हुई। झारखंड के ही एक ग्रामीण क्षेत्र से आने वाले बीजू आज देश के अग्रणी वृत्तचित्र निर्देशकों में से एक हैं। एक सिनेमैटोग्राफर के तौर पर भी उनका कार्य अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सराहा गया है। बीजू के लिए सिनेमा माध्यम का अर्थ हमारी परिभाषाओं से बहुत अलग है। वे इसे भी अपनी जिन्दगी जीने की लड़ाई में (जो आदिवासी क्षेत्रों में निरंतर कठिन होती जा रही है) एक हथियार के तौर पर देखते हैं। अपनी संपदा और ज्ञान के संरक्षण में सिनेमा का कैसे इस्तेमाल किया जाए, यह बीजू की प्रमुख चिन्ताओं में से एक था। बेशक यह मुख्यधारा सिनेमा से बिलकुल अलग विचार है, लेकिन ऐसे विचार ही हमें सिनेमा माध्यम में छिपी विराट संभावनाओं को देखने का एक मंच उपलब्ध करवाते हैं।

यहां ‘विडियोकारन’ जैसी डॉक्यूमेंट्री का ज़िक्र भी किया जा सकता है। जगन्नाथन कृष्णन की बनाई इस डॉक्यूमेंट्री का मुख्य विषय एक ऐसा किरदार है जिसने अपनी जिन्दगी वैध शहर के हाशिए पर बिताई है। इस किरदार के लिए सिनेमा का महत्त्व नितांत भिन्न है क्योंकि इसने अपनी जीवन जीने की समझदारी भी मुख्यधारा सिनेमा से कमाई है। आधुनिक शिक्षा, सुख सुविधाओं से महरूम एक बड़ा समुदाय हमारे महानगरों में सीमांत पर बसता है जिसे हमारे महानगर स्वयं की आधुनिक पहचान से सदा अनुपस्थित रखना चाहते हैं। यह समाज अपने मूल निवास स्थानों से भी अब बहुत दूर निकल आया है। इन परिस्थितियों में इनका ‘लोक’ अब एक नितांत नई पहचान लेकर रचा जा रहा है जिसका एक बड़ा हिस्सा मुख्यधारा सिनेमा गढ़ता है। यह नजरिया भी इस विषय को देखने का एक और रास्ता हमारे सामने खोलता है।

‘मनुष्य की अदम्य जिजीविषा’ यही मूल मंत्र है आज भी। द्विवेदी जी को याद कर अगर कहा जाए तो ठीक-ठीक यही कि अगर सिनेमा एक माध्यम के रूप में इस कोशिश का किसी भी रूप में एक हिस्सा बन पाए, तो उसे लोक में एक विद्यादायी कारक के तौर पर स्थापना से कोई नहीं रोक पाएगा।

कलाकारों के सामने चुनौती

कम्प्यूटर-इंटरनेट का ज्ञान बाजार और प्रबंधन के क्षेत्र में विकसित हो रहा है और वैज्ञानिक सोच व तर्क इसके साथ सामंजस्य नहीं बैठा पा रहे हैं। आज ऐसे लोग हैं जो कम्प्यूटर को साइंस का ही हिस्सा मानते हैं और ऐसे भी लोग हैं जो साइंस के ढाँचे को तेजी से टूटता और बिखरता देख रहे हैं। इसके चलते विद्या के क्षेत्र में खलबली है।

साइंस से दबने वाले किस तीर से मारे गये हैं? वे आधुनिक शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और युद्ध सामग्री के निर्माण और व्यापार के सामने असहाय हैं, निःशस्त्र हैं। वे किस मुँह से इनके खिलाफ बोलें? औद्योगीकरण के लिये बड़ी मशीनों की पक्षधरता रखने वालों ने उजड़ते किसान-कारीगर परिवारों की कब चिंता की थी? साइंस से दबने वालों ने ज्ञान पर साइंस के एकाधिकार को मान्यता देने में महती भूमिका निभाई है। कम्प्यूटर के बल पर जो मायावी दुनिया आज आकार ले रही है उसका ज्ञान के क्षेत्र पर, विद्या के क्षेत्र पर जो साम्राज्य फैलता जा रहा है उसमें साइंस को भी अपना पद छोड़ने के लिये मजबूर किया जा रहा है। अब साइंस के प्रति निष्ठा रखने वालों की भूमिका क्या होगी? अभी यह साफ नहीं है।

विद्या की दुनिया में यानि साहित्य, कला, तकनीक, विज्ञान और दर्शन की दुनिया में, दो तरह के लोग हैं। एक वे हैं जो साइंस से दबते हैं और दूसरे वे हैं जो साइंस से नहीं दबते हैं। जैसे-जैसे विश्वविद्यालयों का विस्तार हुआ है साइंस से दबने वालों की संख्या बढ़ती चली गई है। साहित्य-समीक्षकों और दर्शन के विद्यार्थियों में भी यह संख्या तेजी से बढ़ी है। गांधी और कबीर के अनुयायियों और प्रशंसकों में भी साइंस से दबने वालों की संख्या बहुत अधिक है। हमें उन लोगों की खोज है जो साइंस से नहीं दबते। भाषा, ज्ञान, कला या दर्शन के क्षेत्रों में काम करने वालों में ऐसे लोगों से जो साइंस से नहीं दबते उम्मीद की जा सकती है कि वे विद्या पर एक मौलिक वार्ता को शुरू करने की पहल लें।

साइंस मानवीय संवेदनाओं से अछूता रहा है। और क्या कम्प्यूटर-इंटरनेट से जुड़ा समाज कला और साहित्य को विद्या का दर्जा देता है? अभी जो दिखाई दे रहा है उससे तो लगता है कि यह कला-साहित्य को मनोरंजन उद्योग का मात्र एक उत्पाद मानता है। उसे प्रबन्धन का विषय बनाता है और इस तरह मानवीय सक्रियता को गौण बनाता है। जबकि कला और साहित्य मानवीय संवेदनाओं से निर्मित हैं; इनमें मानवीय संवेदनायें खुलती और खिलती हैं जो कला-साहित्य को अनिवार्यतः नैतिक बना देती हैं। कम्प्यूटर-इंटरनेट से जुड़े समाज में सामान्य मनुष्य की सृजन क्षमता को, उसकी पहल को नकारने का आधार बनता दिखाई दे रहा है। ऐसे में मनुष्य की सक्रियता का मूल यानि उसकी अपनी विद्या पर वार्ता को खोलना और उसे व्यापक करना जरूरी है। विद्या के क्षेत्र में जो तूफान उठा है, जो खलबली मची है उसमें कला के विद्या-रूप की चर्चा का खुलना इसीलिये महत्त्व रखता है। कलाकारों को यह जिम्मेदारी उठाने में हिचक नहीं होनी चाहिये।

यह तो अंततोगत्वा सम्पत्ति का सवाल है

भ्रष्टाचार की खिलाफत का आन्दोलन सामाजिक मूल्यों और नैतिकता का आन्दोलन है। चारों तरफ से इस आन्दोलन को जो समर्थन मिल रहा है उसका आधार निश्चित ही भ्रष्टाचार गैर-कानूनी होने में नहीं है। चूँकि भ्रष्टाचार सामान्य सामाजिक मान्यताओं और सभी को मान्य नैतिकता के मानदण्डों का अब इस कदर हनन करने लगा है कि क्या मजदूर और किसान और क्या सफेदपोश, रोजमर्रे की जिन्दगी जीना दूभर हो गया है। इसलिये यह जन सैलाब। थोड़ी-सी गंभीरता और गहराई से विचार करें तो हम पायेंगे कि यह सवाल हमारी सम्पत्ति की अवधारणा और समाज में सम्पत्ति की वास्तविकता से जुड़ा हुआ है। सम्पत्ति के प्रति समाज में कैसे मूल्य प्रभावी हैं इसका महत्त्व कभी कम करके नहीं आँका जाना चाहिये। आज स्थिति यह है कि कम्पनियों के लगातार बढ़ते मुनाफे, मैनेजर्स की आसमान छूती तनख्वाहें, चमक-दमक के नये-नये बाजार और ऐशो-आराम के रहन-सहन के तरीके अखबारों में सुखियों में छपते हैं, टेलीविजन उन्हें बड़ा महत्त्व देता है। कुल मिलाकर खूब पैसा होना यही सामाजिक मूल्य बन-सा गया है। इसके चलते पैसा कमाने के कैसे भी रास्ते अपनाने में लोग हिचकते नहीं। सब जानते हैं कि सामाजिक दृष्टि से यह गलत है। अंग्रेजी में कहावत है कि 'बड़ा साफ पैसा' नाम की कोई चीज नहीं होती। बेशुमार सम्पत्ति एकत्र करने की कोई घटना कानूनी है या गैर-कानूनी यह अदालत तय करती है। लेकिन लोग यह जानते हैं कि बेशुमार सम्पत्ति जायज तरीकों से एकत्र नहीं हो सकती। ईसा मसीह का एक कथन बड़ा लोकप्रिय है, वह यह कि 'एक सुई के छेद में से ऊँट गुजर सकता है लेकिन अमीर आदमी स्वर्ग नहीं जा सकता'। एकदम साफ है, किसी व्याख्या की जरूरत नहीं है। जाहिर है युगों-युगों से सम्पत्ति समाज रचना की सफाई और गंदगी के केन्द्र में रही है। कार्ल मार्क्स ने तो शोषण की पूरी व्यवस्था का आधार ही निजी

सम्पत्ति में बताया। गांधी जी भी निजी सम्पत्ति के खिलाफ थे। उन्होंने इस सिलसिले में 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

आज अगर कोई कहे कि उसके पास 50 या 100 करोड़ रुपया है और उसने यह सब रुपया कमाने में कोई गैर-कानूनी काम नहीं किया है, जिसका अर्थ यह है कि किसी अदालत में यह साबित नहीं किया जा सकता कि उसने गैर-कानूनी तरीके अपनाये हैं। तो हो सकता है कि वे ठीक कह रहे हों लेकिन क्या सामान्य समाज उस पैसे को वैध मानने के लिये तैयार होगा? यह सामान्य जानकारी की बात है कि रोज चारों तरफ न जाने कितने गैर-कानूनी काम होते रहते हैं जिन्हें अदालत में साबित करना लगभग असंभव काम होता है। समाज कानून से नहीं चलते सामाजिक मान्यताओं से चलते हैं।

समाज में सम्पत्ति की क्या स्थिति हो और उसके प्रति कैसे मूल्य प्रचलित हों इस पर यह भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन एक नई बहस की मांग कर रहा है। वैश्वीकरण और सूचना के तंत्र ने ज्ञान के पूँजीवाद को आकार दिया है जिसमें शोषण और सम्पत्ति दोनों के प्रकार बदले हैं। ज्ञान के शोषण ने नया पैमाना अख्तियार किया है और सम्पत्ति के क्षेत्र में शेर बाजार के सूचकांक बहुत अधिक महत्त्व के हो गये हैं।

एक तरफ रुपया, जमीन, कारखाना, वित्तीय संसाधन, शेर बाजार में मूल्य इन सबके बीच रिश्ते बदल रहे हैं और दूसरी ओर किसान, आदिवासी, कारीगर, पटरी के दुकानदार, ये सब गरीबी के नये पैमानों के साथ जूझ रहे हैं। इस युग में पैदा हो रही अकूत सम्पत्ति का भ्रष्टाचार से अन्वोन्याश्रित रिश्ता है। सम्पत्ति को निश्चित, वाजिब सीमाओं में बांधे बगैर, करोड़ों के मुनाफे और दसों लाखों की तनख्वाहों पर लगाम कसे बगैर भ्रष्टाचार की खिलाफत की लड़ाई खयाली पुलाव साबित होगी।

उत्तराधिकार के कानून

भ्रष्टाचार के खिलाफ अभियान का एक प्रभावी अंजाम हो इसके लिये जरूरी है कि उत्तराधिकार के कानून में बदलाव हो। अभी की व्यवस्था में लालची लोग सात पुशों तक का इंतजाम करना चाहते हैं। जब तक सम्पत्ति अपनी अगली पीढ़ी को हस्तांतरित करने के कानून में बदलाव नहीं होता तब तक इस लालच पर लगाम कसना मुश्किल है। कितनी और कैसी दौलत उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त की जा सकती है इसे कड़े नियमों से बांधना जरूरी है। मान लीजिये कि मैं सर्वोच्च न्यायालय का एक वकील हूँ। मैंने अकूत सम्पत्ति कमाई है जो देशभर में मकानों, जमीनों, कम्पनी के शेयरों और आभूषणों के रूप में अस्तित्व में है। क्या मुझे और मेरे वारिसों को यह अधिकार होना चाहिये कि यह सब मेरे वारिसों को मिले? मुझमें वह विशेष क्षमता थी कि वर्तमान व्यवस्था के मौकों का इस्तेमाल करके मैंने यह सब कमाया। क्या बस इतने भर से मुझे यह अधिकार मिल जाता है कि मैं सब कुछ अपने वारिसों को दे दूँ? क्या समाज के पास और कसौटियाँ नहीं हैं जो समाज के सुचारु संचालन की दृष्टि से मेरे द्वारा इस अकूत सम्पत्ति के इस्तेमाल पर रोक लगाये? वैसे सौ करोड़ रुपये निर्मल मार्गों से नहीं इकट्ठा होते। जरूरत तो वास्तव में यह है कि जिनके भी पास इतनी सम्पदा है उन सबकी जाँच होनी चाहिये।

किसी भी समाज के लिये उत्तराधिकार के नियम अति महत्वपूर्ण होते हैं। पूँजीवादी, समाजवादी, साम्यवादी या अपने जैसी लोकतांत्रिक, कैसी भी व्यवस्था हो अगर उत्तराधिकार में खुली छूट होगी तो भ्रष्टाचार उसका अनिवार्य नतीजा होगा। सम्पत्ति का उत्तराधिकार कई तरह के उत्तराधिकार को बढ़ावा देता है। पहले जमींदार के बेटे जमींदार होते थे, और अब डाक्टर के बेटे डाक्टर बनते हैं, अफसरों के बेटे अफसर और नेताओं के बेटे नेता। जाति व्यवस्था की भर्त्सना पर आधारित आधुनिक समाज में उन्हीं प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने का काम उत्तराधिकार की सुरक्षा के कानून करते हैं। अपने बेटे को नेता बनाने में या अपने बेटे को अफसर या डाक्टर बनाने में असीमित भ्रष्टाचार व्याप्त है। यह आजादी का नतीजा नहीं है, सम्पत्ति के उत्तराधिकार से पैदा गंदा नाला है। उत्तराधिकार के कानून परजीवी रूझान को बढ़ावा देते हैं और समाज की रचनात्मक ताकतों को स्खलित करते हैं। भ्रष्टाचार विरोधी माहौल ने यह मौका पैदा किया है कि उत्तराधिकार के कानून के बदलाव के लिये जनमत तैयार किया जाय।

ज्ञान आंदोलन की भारतीय परम्परा

चित्रा सहस्रबुद्धे

लोकविद्या जन आंदोलन एक ज्ञान आंदोलन है। यह सामान्य लोगों के ज्ञानी होने का दावा है। यह उन लोगों के ज्ञान का दावा पेश करता है जो कभी स्कूल-कॉलेज नहीं गए। यह किसान, कारीगर, आदिवासी, महिलाओं और छोटे-छोटे ठेलों-पटरियों पर सामान बेचने वाले लोगों के ज्ञान का आंदोलन है। यह एक ऐसा ज्ञान आंदोलन है जो यह दावा पेश करता है कि आज के युग की समस्याओं का हल आज के प्रतिष्ठित ज्ञान (साइंस और कम्प्यूटर आधारित ज्ञान प्रबंधन) में नहीं है, बल्कि इन्हें हल करने का आधार लोगों की अपनी विद्या, लोकविद्या में है। यह कोई नया दावा नहीं है। वास्तव में समाज में ज्ञान आंदोलन की लम्बी परम्परा रही है। हमारे समाज में लोकहितकारी परिवर्तनों का आधार ज्ञान आंदोलनों में ही रहा है। बुद्ध के समय से और शायद उनके पहले से भी इस परंपरा की निरंतरता को देखा जा सकता है।

बुद्ध का कार्य एक ज्ञान आंदोलन ही है। ज्ञान आंदोलन ही ज्ञान को उस युग की जकड़न से मुक्त करता है और एक नया प्रवाह प्रदान करता है। 8वीं सदी से 12वीं सदी तक भाषाओं के विकास का समय माना गया है। आज बोली और लिखी जाने वाली बहुत-सी भारतीय भाषाओं का जन्म और विकास इस दौर में हुआ ऐसा माना जाता है। इसे भाषा आंदोलन का समय भी कहा जाता रहा है। लेकिन यह तो ज्ञान आंदोलन ही है। किन्हीं थोड़ी-सी भाषाओं और लिपियों में ज्ञान को बांधने का विरोध इतना व्यापक और गहरा हुआ कि अनेक भाषाओं और लिपियों का जन्म और विकास हुआ। सामान्य लोगों की सक्रियता का उफान उठा और अप्रतिम साहित्य व कलाओं की रचना हुई। आगे 12वीं से 18वीं सदी तक देश के हर कोने में हर जाति और धर्म में संतों ने फिर एक ऐसे दर्शन की अलख जगाई जिसमें मनुष्य के उत्सर्ग व उद्धार के रास्ते में खड़ी की गई हर बाधा को चुनौती दे दी गई, लिंग, जाति, धर्म, धन, शोहरत, कर्मकांड, रस्म सभी को। अमीर खुसरो, कबीर, रैदास, मीरा, नानक, तुलसी, चैतन्य और कई अनेक संतों के इस काल को इतिहासकारों ने भक्तिकाल का नाम दिया है। लेकिन यह तो ज्ञान आंदोलन ही था। इसे भक्ति काल कहकर इसके ज्ञान की ताकत को धूमिल करने की कोशिश की गई है, ऐसा लगता है। क्योंकि उस काल के प्रतिष्ठित दर्शन की धारा को चुनौती देते हुए देश के हर कोने से सामान्य मनुष्य के ज्ञान-दर्शन की अनेक धाराएं बहने लगीं। इसे तो ज्ञान आंदोलन ही कहा जाना चाहिए। पिछली सदी में गांधी का जीवन, दर्शन और कार्य सामान्य जीवन के ज्ञान को पुनर्प्रतिष्ठित करने का प्रयास रहा है। सत्य, अहिंसा और स्वदेशी के विचारों की जड़ें यहां के मनुष्य के सामान्य जीवन में रहीं हैं। 1960 के दशक का राममनोहर लोहिया का 'अंग्रेजी हटाओ आंदोलन' भी ज्ञान आंदोलन की परम्परा में देखा जाना चाहिए। लोहिया ने लोकविद्या शब्द का प्रयोग नहीं किया है किन्तु सामान्य मनुष्य के ज्ञान की प्रतिष्ठा में अंग्रेजी की बाधा की पहचान मौलिक ढंग से की गई और उसे सामाजिक आंदोलन का आधार बनाया गया। फिर 1980 के दशक में एक ऐसा किसान आंदोलन खड़ा हुआ जिसने अपने अराजनैतिकता के विचार के जरिए बड़े पैमाने पर किसान समाज से ही नेतृत्व उभार कर सामाने लाया। इस आंदोलन ने उत्तर प्रदेश के चौधरी महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में इस विचार को प्रेरणा दी कि किसान खुद ज्ञानी और दार्शनिक होता है। इसमें लोकविद्या जन आंदोलन की शुरुआत मानी जा सकती है।

सूचना का वर्तमान युग लोकविद्या जन आंदोलन की मांग करता है और उसके लिए उर्वर भूमि देता है। इस युग में पूंजी का निर्माण मात्र श्रम के शोषण से नहीं बल्कि बड़े पैमाने पर ज्ञान के शोषण से भी हो रहा है। लोकविद्या के शोषण की नई-नई विधाएं और व्यवस्थाएं आकार ले रही हैं। इसके चलते पूंजीपतियों के मुनाफे में एक बहुत बड़ा उछाल आया है। इस अनाप-शनाप मुनाफे के चलते अपने ही देश में नहीं बल्कि दुनिया के कई देशों में बड़े-बड़े घोटालों और भ्रष्टाचार का पैमाना बढ़ा है। कई लोग वर्तमान दौर को ज्ञान का पूंजीवाद कहते हैं। यह ज्ञान के पूंजीवाद का दबदबा ही है कि एकतरफ ज्ञान को बांधने के नए-नए तरीके अपनाए जा रहे हैं, जैसे पेटेंट कि व्यवस्था, कम्प्यूटर में दस्तावेजीकरण और ज्ञान का संग्रहण, उच्च शिक्षा को महंगा बनाना, ज्ञान को विश्वविद्यालयों की चहारदीवारी में कैद रखना आदि और दूसरी तरफ ज्ञान के उत्खनन का काम जोरों से जारी रखना जिसके अंतर्गत किसानों, कारीगरों, आदिवासियों और महिला समाज से बड़े पैमाने पर ज्ञान का खनन हो रहा है। तरह-तरह की नीतियों और कानूनों से आम लोगों के लोकविद्या के इस्तेमाल पर रोक लगाई जा रही है और उनके ज्ञान के खनन में आक्रामक और गैरकानूनी तरीके अपनाए जा रहे हैं। इनके संसाधनों (जल, जंगल, जमीन) का छीना जाना, इन्हें बाजार में इनके ज्ञान (उत्पादन) का दाम न मिलना और राष्ट्रीय संसाधनों से इन्हें वंचित करना, इनके ज्ञान के शोषण से ही संबंध रखता है। यह सब एक लोकविद्या संगर्भित ज्ञान आंदोलन की मांग करता है। ऐसे ज्ञान आंदोलन का दर्शन, संगठन के प्रकार और संघर्ष के तरीके लोकविद्या, यानि लोकस्थ ज्ञान, के आधार पर ही विकसित होने हैं।

ग्रामपाल

भारत के गाँवों को ग्रामपाल की जरूरत है। गाँव में सरकार की ओर से की गई व्यवस्थाओं और सरकारी खजाने से किये जा रहे खर्च में एक भी उदाहरण खोजना मुश्किल है, जिसमें जम के भ्रष्टाचार न होता हो। बिजली की व्यवस्थायें व आपूर्ति, सिंचाई की व्यवस्था, खाद-बीज की आपूर्ति, कृषि उत्पादन की खरीद, प्राकृतिक आपदाओं (ओला, तूफान, सूखा) में सरकारी मदद, स्वास्थ्य सेवायें, ऋण की सेवायें, प्राथमिक व माध्यमिक विद्यालयों की व्यवस्था व संचालन, तालाब, कुयें व सड़क निर्माण, आवास निर्माण, मनरेगा, लाल, पीले व सफेद कार्ड, विधवा व वृद्धा पेंशन आदि और भी अनेक योजनायें जिनके अन्तर्गत गाँव के निवासियों के लिये जीवन की व्यवस्थाओं और सहूलियतों के मद्देनजर सरकारी खजाने से खर्च की व्यवस्था होती है। एक भी काम ऐसा नहीं है जिसमें आवंटित धन का पूरा-पूरा लाभ ग्रामवासियों को मिल सके। जहाँ से धन चलता है और अंत में जहाँ खर्च होना होता है उसके बीच एक बहुत बड़ा हिस्सा लूट लिया जाता है। यह लूट कैसे बन्द हो? क्या गाँव वाले दौड़ा-दौड़ा कर चोरों को पकड़ेंगे और उन पर मुकदमा चलायेंगे? और फिर गाँव वाले यानि कौन? पंचायत सदस्य, ग्राम प्रधान, बी.डी.सी. मेम्बर, कौन? जो भी किसी पद को नवाजे हैं लूट का कुछ हिस्सा उसको मिल रहा है। जो ईमानदार लोग हैं, समझदार हैं, समाज से सरोकार रखते हैं, अपनी जिम्मेदारी भी समझते हैं वे किसी पद पर होते नहीं क्योंकि हर पद पर पहुँचने का रास्ता झूठ, बेईमानी और पैसे के लेन-देन से होकर गुजरता है। ग्रामपाल की व्यवस्था इन्हीं ईमानदार लोगों की सेवायें प्राप्त करने की व्यवस्था है। इनमें से अधिकतर लोग ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं होते हैं। शायद इसीलिये देश और समाज में आज व्याप्त चालाकियों से दूर होते हैं। वे अच्छे किसान हो सकते हैं, किसी हुनर में दक्ष हो सकते हैं या फिर सीमित संसाधनों में प्रभावी प्रबन्धन की क्षमता रखते हैं यह हो सकता है। इनमें सच बोलने की क्षमता होती है। ये ही लोग ग्रामपाल की व्यवस्था के मजबूत खम्भे हो सकते हैं।

जैसाकि ऊपर कहा है ग्रामपाल एक व्यवस्था का नाम है, सामान्य तौर पर एक समिति का जिसका अध्यक्ष भी ग्रामपाल के नाम से जाना जा सकता है। यह वैसी ही व्यवस्था है जैसी व्यवस्था जन लोकपाल के नाम से चर्चा में आई है। भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन की मांग है कि केन्द्र में लोकपाल होगा और राज्यों में लोकायुक्त। और दोनों एक ही व्यवस्था के अंग होंगे जो भ्रष्टाचार निवारण का प्रमुख हथियार होगी। यह व्यवस्था जब तक गाँवों में भी नहीं होगी किसानों को और ग्रामीण मजदूरों और कारीगरों को न्याय तो नहीं ही मिल सकेगा। यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि पहले लोकपाल और लोकायुक्त बनें फिर वैसी ही व्यवस्था गाँव में की जायेगी। गाँवों की व्यवस्था वास्तव में थोड़ी अलग ढंग की होगी। जिस कानूनी जामे में इस देश के नीति निर्धारक सोचते हैं इसमें सोचने से काम नहीं चलेगा। गाँव की दुनिया लोकविद्या की दुनिया है। सारी शहरी घुसपैठ के बावजूद अलग है। और इस सबका ध्यान अगर नहीं रखा गया तो नतीजा सिफर होगा। गाँव-गाँव में एक ग्रामपाल अभियान की जरूरत है, जो इस सिलसिले में गाँव की जरूरतों और उन्हें पूरा करने के तरीकों की ओर ध्यान आकर्षित करेगा। किसानों के संगठनों ने इस पर गंभीरता से विचार करना चाहिये और ऐसा अभियान चलाने का मन बनाना चाहिये।

लोकविद्या पंचायत के पाठकों से

- **वार्षिक सदस्यता शुल्क रु. 50/-**
- **वेतन पाने वालों से कम से कम रु. 100/- प्रति वर्ष अपेक्षित है।**
- **आजीवन सदस्यता रु. 1000/-**
- **अपने क्षेत्र के लोकविद्याधरों की समस्यायें, संघर्ष एवं संगठनों के बारे में अवश्य लिख भेजें।**

सम्पर्क फोन

+91-9369124998, +91-9838944822

साहित्य बौद्धिक सत्याग्रह का वाहक है

सुनील सहस्रबुद्धे

साहित्य एक बहुमुखी विधा है जिसका कौन-सा रूप कब विशेषतौर पर उजागर हो यह समय की माँग से तय होता है। संवेदना, आक्रोश, कष्ट, समझ, प्रतिरक्षा, आक्रमण व अन्य अनेक भूमिकाओं का तुलनात्मक महत्त्व कब, कितना और कैसा होगा, यह समय की माँग से तय होता है। समय की माँग से हमारा मतलब है सामाजिक बदलाव की जरूरतों से, शोषित वर्गों की राजनीति की जरूरतों से, लोकसंघर्षों की जरूरतों से इत्यादि। हमारे ख्याल में आज साहित्य की विद्या रूपी भूमिका सबसे महत्वपूर्ण है।

20वीं सदी के आखिरी दशक में वैश्वीकरण के विश्वव्यापी तंत्र ने, सूचना प्रौद्योगिकी और इन्टरनेट के विकास और विस्तार ने और सुनियोजित अमेरिकी युद्धों ने ऐसी वास्तविकताओं का निर्माण शुरू कर दिया है जिसने 19वीं व 20वीं सदी में विकसित सामाजिक बदलाव की परिकल्पनाओं, शोषित वर्गों की राजनीति तथा लोक-संघर्षों को मौलिक आत्मविवेचना के लिये मजबूर कर दिया है।

शोषित वर्गों की राजनीति का पुनर्निर्माण, उसे गांधी व मार्क्स को मिला के बनाना हो तो, या उसे नये सिरे से गढ़ना हो तो, इस 21वीं सदी के पहले दिन से ही सबसे बड़े काम के रूप में सामने आया है। इस पुनर्निर्माण की मौलिकता ने विद्या की भूमिका को अति-महत्वपूर्ण बना दिया है। इस बदलाव की एक खासियत यह है कि साइंस (संगठित विद्या) के रूप भी बदल रहे हैं। शायद इसीलिए 'ज्ञान' नये मुहावरों के केन्द्र में है। इसे लफ्फाजी समझना बहुत बड़ी भूल होगी। राजनीतिक बहसों में विद्या का सन्दर्भ न लेने वाले हाशियों में जीने के लिये मजबूर होंगे। इसमें साहित्य कहाँ है?

समीक्षा और दर्शन

सत्य का निर्माण और सत्य की खोज इन दो मौलिक परम्पराओं के अनुकूल ही विद्या के भी दो रास्ते निखर कर सामने आते हैं। सत्य के निर्माण का रास्ता सामान्य (सहज) जीवन का रास्ता है, संत मार्ग है, लोकविद्या का रास्ता है। संतों में इस रास्ते की एक विलक्षण अनुभूति होती है जो उनकी वाणी के मार्फत समाज को समय की माँग के अनुरूप सत्य के निर्माण और पुनर्निर्माण के रास्ते सुझाती है। आम लोगों की जानकारियों, कलाओं, तकनीक के ज्ञान, प्रक्रियाओं की समझ, संगठन की क्षमताओं, तर्क के रूपों व संवेदनाओं के विस्तार इत्यादि में, रचना, पुनर्रचना व सामाजिक बदलाव का व्यापक आधार होता है। लोकविद्या और सामान्य जीवन का अविच्छेद्य सम्बन्ध एक अभेद्य किला है। दूसरी ओर सत्य की खोज का रास्ता संगठित विद्या का रास्ता है, साइंस का रास्ता है, शास्त्रीय मार्ग है। ज्ञान का अमूर्तीकरण व वैयक्तिक क्षमता इसके मुख्य अवयव हैं। मनुष्य के हित अथवा उसकी संवेदना से, उसकी कलाओं और स्वयंस्फूर्त रचना मार्गों से सिद्धांततः संगठित विद्या का कोई सरोकार नहीं होता। 20वीं सदी में इस विद्या का स्थान विश्वविद्यालय रहे। कला और भाषा के विभागों में यह समीक्षा के रूप में प्रतिष्ठित है। साहित्य समीक्षा या आर्ट अप्रीशिएशन संगठित विद्या के ही हिस्से हैं।

समीक्षा और दर्शन में फर्क करना जरूरी है। दर्शन केवल पाश्चात्य आधुनिक दर्शन के रूप में ही साइंस के सामने नतमस्तक है। उसमें भी शायद यूरोप के बड़े भाग में उपजे और विकसित दर्शन को इंग्लैण्ड और अमेरिका के (अंग्रेजी) दर्शन से अलग करके इस आरोप से बरी करना होगा। इसलिए साहित्य का दर्शन और साहित्य की समीक्षा अलग-अलग बातें हैं। समीक्षा किसी काल अथवा स्थान के साहित्य में अन्तर्निहित सम्बन्धों व उसके समाज के साथ सम्बन्ध की तर्कसंगत विवेचना है। कला-दर्शन की नींव सौन्दर्यानुभूति की कालजयी कल्पना में है। हर व्यक्ति इस कल्पना में भाग लेने की क्षमता रखता है और उसका हकदार है। इसके लिये किसी शिक्षण अथवा प्रशिक्षण की दरकार नहीं होती। दर्शन मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। सौन्दर्यानुभूति की कल्पना उसी अर्थ में कालजयी है जिस अर्थ में सत्य कालजयी होता है। यह वही अर्थ है जिस अर्थ में सामान्य जीवन कालजयी होता है तथा सौन्दर्यानुभूति इसकी रोजमर्रा की एक घटना। कालजयी का अर्थ अपिरतर्वनशील होने से नहीं लिया जा सकता। काजलयी का अर्थ है विकृति पर जय। समय में बदलाव के बावजूद जो विकृत नहीं होता। अतः दर्शन की दृष्टि में साहित्य का मूल सम्बन्ध सामान्य जीवन से है। यदि हम साइंस और समीक्षा के दबाव से अपने को मुक्त कर सकें तो हमें साहित्य सामान्य जीवन को दृष्टि देना नजर आयेगा और जिस हद तक यह सम्बन्ध द्रंढात्मक होना लाजमी है उस हद तक साहित्य सामान्य जीवन के पथ-प्रदर्शन का काम भी करता है।

साहित्य लोकविद्या का हिस्सा है। साहित्य के विद्या-रूप को लोकविद्या के रूप में देखना, पहचानना, समझना, नई राजनीति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। 'ज्ञान आधारित समाज' के महानगरीय नारों और ठहाकों के बीच तथा मुद्रा के अबाधित और अश्लील व्यवहार के बीच सामान्य जीवन में निहित कसौटियों में जान फूंकने का काम क्या साहित्य का नहीं है? मनुष्य के ज्ञान और सामाजिक मूल्यों का एकीकृत रूप ही विद्या है और इस विद्या की प्रतिष्ठा ही बौद्धिक सत्याग्रह है। साहित्य का आज का विद्या-कर्म बौद्धिक सत्याग्रह का है।

बौद्धिक सत्याग्रह क्या है?

क्या गांधी का 'स्वदेशी' का विचार और रचनात्मक कार्य बौद्धिक सत्याग्रह के रूप हैं? क्या 'नई तालीम' बौद्धिक सत्याग्रह है? क्या चीन की 'सांस्कृतिक क्रांति' बौद्धिक सत्याग्रह का रूप है? क्या लोहिया का 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन बौद्धिक सत्याग्रह ही है? लोकविद्या और सामान्य जीवन से बौद्धिक सत्याग्रह का क्या सम्बन्ध है? कबीर का 'सहज ज्ञान' और गांधी की 'सहज-बुद्धि' किस अर्थ में हमें बौद्धिक सत्याग्रह की कल्पना साकार करने में मदद करते हैं?

सामान्य लोग जानकार हैं। अपना काम करना जानते हैं, हुनर से करना जानते हैं, समय से करना जानते हैं। वे क्या करें और कब करें ये मैनेजर तय करते हैं। अब मैनेजर ये भी तय करेंगे कि जानकारी का अर्थ क्या है, ज्ञान की परिभाषा क्या है। अभी तक उत्पादन के लिये और बाजार के लिये मैनेजर हुआ करते थे। अब मैनेजरों की एक नई

जमात तैयार हो रही है। ये कम्प्यूटर युग के मैनेजर हैं। ये ज्ञान के मैनेजर कहे जाते हैं। अब केवल उस ज्ञान, हुनर और क्षमता को पहचाना जायेगा जिसका प्रबन्ध ये कम्प्यूटर से कर सकें। ये सब गुलामी के लायक माने जायेंगे और बाकी सब मिथ्या या फिर एकदम बेकार। यानि लायक समझे गये तो गुलाम अथवा नालायक तो हैं ही। अर्थात् सामान्य लोगों के ज्ञान की वैधता में उनकी गुलामी का आधार होना है और अवैध घोषित होने में बहिष्कृत होने का। क्या समाज की संवेदना में इस ज्ञान-अवैध अस्तित्व का बोध है?

सामाजिक कार्यकर्ताओं से पूछा जाय तो शायद वे कुछ ऐसा कहेंगे—

हमें अंग्रेजी आती नहीं है। टेलीविजन और अखबार के काम कर पाने के लिये उच्च शिक्षा की तहजीब चाहिये। सरकारी नौकरियों में जगहें खतम हो गई हैं। हमने मशीन का काम सीखा तो अब मशीन के दिन लद गये। कहते हैं कम्प्यूटर सीख लो। जिन भाईबंद ने सीखा है उन्हें न नौकरी है और न अपना धंधा ही चलता है, क्योंकि वे एक हद से ज्यादा सीख नहीं पाते। यहाँ भी अंग्रेजी चाहिये, पाश्चात्य तहजीब की अकल चाहिये, बहुत पढ़ा-लिखा होना चाहिये। बात ये नहीं है कि हमें कुछ करना नहीं आता। काम तो हम दसों तरह के जानते हैं। खाना बनाना, कपड़ा सिलना से लेकर खेती के काम, लोहा, लकड़ी और चमड़ा के काम, सभी हम जानते हैं। फूल और पत्ती पहचानते हैं। उनके गुण-धर्म से अच्छा परिचय रखते हैं। पशुओं के साथ रहना जानते हैं। जानवरों के साथ भी रहना जानते हैं। उन्हें मारने की कला भी जानते हैं। खेल-कूद, नाटक, कविता, गायन किसी में भी हम पीछे नहीं हैं। लेकिन वे सब जो अंग्रेजी जानते हैं, साइंस और कम्प्यूटर पढ़े हैं, टेलीविजन और अखबारों में काम करते हैं, दिल्ली, बम्बई और बैंगलोर में गुलछरें उड़ाते हैं, हमें बेवकूफ कहते हैं। कहते हैं, तुम कोई काम नहीं जानते। तुम्हें बात करना नहीं आता, उठना-बैठना नहीं आता, कपड़ा पहनना नहीं आता। जहाँ झूठ बोलना होता है वहाँ सच बोलते हो और जहाँ सच बोलना होता है वहाँ झूठ बोलते हो।

बृहत् समाज को अपने और अपने ज्ञान के इस वैध-अवैध पेंचदार अस्तित्व का बोध है भी और नहीं भी। जबकि उसके सार्वजनिक व्यवहार और समझ में गुलामी के दस्तखत देखे जा सकते हैं, उसकी संवेदना में इस नये झूठ का बोध है और उसके प्रति विद्रोह भी। इसी संवेदना की अभिव्यक्ति बौद्धिक सत्याग्रह की शुरुआत है। यह संवेदना अगर कला में नहीं व्यक्त होगी तो कहाँ होगी? अगर भाषा में रूपांतरित नहीं होगी तो कहाँ होगी? जो लेख में लिखा जा सकता है वह कहानी में क्यों नहीं लिखा जा सकता? और जब तक वह कहानी में नहीं लिखा जाता तब तक उसकी वास्तविकता संदेह के घेरे में रहती है। कहानी या कलाकृति सामान्य जीवन के तर्क की छू जाने वाली अभिव्यक्ति है। हम साहित्य की दुनिया से तब तक आशा रखेंगे जब तक वह पूरी नहीं हो जाती।

[यह पहली बार लोकविद्या संवाद, अंक 17, फरवरी 2006 में प्रकाशित हुआ था।]

कलाकारों के बीच लोकविद्या वार्ता

इन्दौर शहर के कुछ प्रमुख कलाकारों और सामाजिक कलाकारों के बीच लोकविद्या वार्ता हुई। धेनु मार्केट स्थित दिनेश कोठारी के कलाकेन्द्र पर 15 जुलाई की शाम को हुई इस बैठक में साहित्यकार, चित्रकार, रंगकर्मी, मीडियाकर्मी और फिल्म निर्माण की विधा से जुड़े कुछ कलाकारों ने हिस्सा लिया। कला केन्द्र पर अमृतलाल बेगड़ के रेखाचित्रों के बीच चली इस वार्ता का विषय था आज के युग में ज्ञान के क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों की सटीक समझ कलाकार ही सामने ला सकते हैं। चित्रा सहस्रबुद्धे ने लोकविद्या का विचार सबके सामने रखा और इस बात पर जोर दिया कि साइंस ने मनुष्य की संवेदना को अपने सिद्धान्तों से ही बेदखल कर दिया नतीजतन समाज और प्रकृति में विध्वंस का न थमने वाला दौर चल पड़ा। सूचना युग ने साइंस के वर्चस्व को तोड़ा है और ज्ञान के क्षेत्र में तमाम दूसरी ज्ञान धाराओं के प्रवेश का रास्ता बनाया है। इसके चलते मनुष्य की संवेदनाओं और लोकविद्या को ज्ञान क्षेत्र में प्रवेश मिला है। लेकिन इन्हें तुरंत बाजार में बेचने योग्य बनाने का दबाव भी बना है। महत्त्व की बात यह है कि सूचना की व्याख्या की पहल कला क्षेत्र के लोगों की ओर से हुई है न कि साइंस या तकनीकी क्षेत्र के। कला के विद्या रूप का शोषण सूचना युग की देन है। ऐसे में कलाकारों को आगे बढ़कर ज्ञान के शोषण, विशेषतः लोकविद्या के शोषण के खिलाफ चेतना को मुखर करने में पहल लेनी चाहिये क्योंकि लोक ही कलाकारों की प्रेरणा और रचना का आधार होता है।

बैठक में शामिल कलाकारों में विशेष रूप से सत्यनारायण पटेल, अरुण डिके, पंकज उपाध्याय, विनोद पाराशर, प्रकाश पाटीदार, अनिल त्रिवेदी, अवधेश यादव, जवरचन्द, श्री राम जोग, दिनेश कोठारी व संजीव कीर्तने ने हिस्सा लिया।

विन्ध्य प्रदेश में एक शुरुआत की कोशिश



यह चित्रा सहस्रबुद्धे, सुनील सहस्रबुद्धे और अवधेश कुमार के विन्ध्य प्रदेश के दौर की रपट है। अवधेश कुमार भोपाल में अरविंद केजरीवाल व सुनीलमू द्वारा आयोजित भ्रष्टाचार विरोधी जन लोकपाल अभियान की एक सभा से आये थे। चित्रा व सुनील विद्या आश्रम से लोकविद्या जन आन्दोलन के प्रचार-प्रसार के लिये निकले थे। प्रमुख रूप से तीन बैठकें आयोजित हुईं। 22 जुलाई को उमरिया में, 23 को शहडोल में और 24 को रीवा में स्थानीय सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ वार्तायें हुईं। बैठकों में सामाजिक कार्यकर्ता, पत्रकार, शिक्षक, छात्र व अन्य बुद्धिजीवी शामिल हुए। तीनों ही बैठकों में प्रमुख रूप से लोकविद्या विचार प्रस्तुत किया गया, लोकविद्या जन आन्दोलन का अर्थ बताया गया और इन विचारों का अन्ना हजारे के जन लोकपाल अभियान से क्या सम्बन्ध है इसकी चर्चा की गई। कहा गया कि लोकविद्या किसान और आदिवासी परिवारों की विद्या है और उन्हें समाज में बराबरी का दर्जा तभी मिल सकता है जब उनकी विद्या को

और विद्याओं चाहे वह साइंस की हो या मीडिया की, के बराबर का दर्जा मिले। विन्ध्य क्षेत्र आदिवासी बहुल, प्रकृति समृद्ध क्षेत्र है और अधिकांश लोगों का आदिवासी विद्या की क्षमता से कभी न कभी साबका पड़ा होता है। इसलिये लोकविद्या का विचार अपने इस रूप में नया होते हुए भी उन्हें इसे समझने में कोई दिक्कत नहीं हुई। यह हम नहीं कह रहे हैं, सभा में ऐसे विचार सक्रिय जनों ने व्यक्त किये। इस पर खुलकर चर्चा हुई कि अन्ना हजारे को 'सिविल सोसायटी' नहीं बल्कि पूरे समाज के प्रतिनिधि के रूप में देखा जाना चाहिये। सिविल सोसायटी का नामकरण आंदोलन को संकुचित करता है और सामान्य सामाजिक कार्यकर्ताओं की जगह उसमें कम करता है। अन्ना हजारे के इस आंदोलन में ग्रामीण भारत की भागीदारी खुलकर सामने आने की संभावनाओं को वास्तविक बनाने के प्रयास किये जाने चाहिये।

उमरिया की सभा का आयोजन विजय जोशी और डॉ. सदानन्द ने किया, शब्बीर खान ने अध्यक्षता की और हसन साहब, राज कुमार, भूपेन्द्र त्रिपाठी, रामकुमार, उमाशंकर आदि ने बहस में सक्रिय भागीदारी की। शहडोल में त्रिलोकीनाथ गर्ग ने सभा का आयोजन किया और पचोश गुप्त ने अध्यक्षता की। श्याम बाबू जायसवाल, शिवकुमार दूबे, शुभदीप खरे, अशोक तिवारी व राजकुमार की भागीदारी उल्लेखनीय रही। रीवा की सभा का आयोजन डॉ. मुकेश यंगल व वंशवर्द्धन ने किया। अध्यक्षता गिरिजा प्रसाद द्विवेदी ने की। सुभाष श्रीवास्तव, अजय खरे, सुबोध पाण्डेय, अमित पाण्डेय, संजय सिंह, अरशद खान, जगन्नाथ पाण्डेय, विष्णु, दिलीप शुक्ला, चन्दू खुशलानी, राजेन्द्र कवि, नीलू डाहिया, सविता यंगल आदि ने बहस में भाग लिया।

लोकविद्या जन आन्दोलन पर एक बहस की शुरुआत

अमित बसोले

[इंटरनेट पर lokavidyajananandolan.blogspot.com ब्लॉग पर लोकविद्या जन आन्दोलन की तैयारी की वैचारिक बहस 12 जुलाई से शुरू की गयी है। अब तक 10 से अधिक लोगों ने लिखा है। इस ब्लॉग को पाठक अवश्य पढ़ें। अमित बसोले ने इस बहस को शुरू करने के लिए जो लिखा है वह नीचे दिया जा रहा है। —सम्पादक]

वाराणसी में 12-14 नवम्बर, 2011 के बीच लोकविद्या जन आन्दोलन का जो पहला अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन प्रस्तावित है उसकी वैचारिक तैयारी के लिए प्रस्तुत लेख के साथ इंटरनेट पर बहस की शुरुआत की जा रही है। आशा है कि इस बहस में तरह-तरह के लोगों के और तरह-तरह के दृष्टिकोणों के ख्याल सामने आयेंगे। इस बहस को हमें किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुँचाना है बल्कि आन्दोलन में विचारों की विविधता को बढ़ाना है और लोकविद्या पर आधारित राजनीति के लिये नये रास्ते बनाये हैं। हमारी समझ यह है कि आन्दोलन निर्माण के वर्तमान चरण में दृष्टि को अधिकाधिक सटीक बनाने की जगह विविध विचारों और दृष्टिकोणों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

नीचे मैं इस सवाल का अर्थ खोजने की कोशिश करूँगा कि सार्वजनिक बहस में लोकविद्या का दावा पेश करने का अर्थ क्या है। ऐसे दावे का सार तत्त्व क्या है और किस तरह यह एक समकालीन राजनीतिक प्रस्ताव है। मेरी भाषा कुछ पक्की बात कहने जैसी है लेकिन इसे केवल इस कथन का केन्द्र-बिन्दु सामने लाने की एक युक्ति के रूप में समझा जाय और नीचे जो बातें कही गई हैं उन्हें बहस और वैचारिक प्रस्थान के बिन्दुओं के रूप में देखा जाय।

भारत के और दुनिया भर के अधिकतर लोगों को यह बताया गया है कि वे अज्ञानी हैं और समाज की गतिविधियों में पूरी तरह भाग ले पाने के लिये उन्हें शिक्षा की जरूरत है। जब वे राजनीतिक दृष्टि से जनाधार का काम करते हैं तब भी बौद्धिक दृष्टि से उन्हें हाशिये पर ही रखा जाता है, नतीजतन अक्सर वे किसी और की लड़ाई लड़ते रहते हैं। लेकिन लोगों को अपने ज्ञान का एहसास है और इस बात का भी एहसास है कि वे अपने ज्ञान के आधार पर एक नई दुनिया बना सकते हैं। किसान, आदिवासी, कारीगर, दुकानदार, छात्र, सामान्य लोग एक नई गति में हैं, ये सब दुनियाभर में संघर्षों और आन्दोलनों में शरीक हो रहे हैं। वे इन आन्दोलनों का जनाधार मात्र नहीं है, बल्कि बौद्धिक आधार भी हैं। गांधी जी ने कहा था कि कोई संघर्ष शुरू करने के पहले हमें अपने शक्ति के स्रोतों को जाँच लेना चाहिये। हमारे संघर्ष हमारे हित में नहीं होंगे अगर उसके आधार हमारे अपने नहीं होंगे या फिर ऐसे होंगे जिन्हें हम समझते नहीं हैं। कार्ल मार्क्स का भी यही कहना है। लोकविद्या का दृष्टिकोण यह है कि लोगों का अपना ज्ञान ही उनकी शक्ति का स्रोत है। लोकविद्या जन आन्दोलन में लोग यही कहने के लिये खड़े होते हैं।

भूमि, वन और रोजगार से विस्थापन के खिलाफ हो रहे जनसंघर्ष, पर्यावरणीय न्याय और खाद्य सम्प्रभुता के संघर्ष तथा और तमाम संघर्ष, वर्ग, जाति, धर्म और स्त्री-पुरुष के विभाजनों से ऊपर उठकर संघर्षों का एक नया बिरादराना बना रहे हैं, आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा 'अशिक्षित' होने के कलंक को धोने के लिये साथ आ रहा है। लोकविद्या जन-आन्दोलन इसी समझ की अनुभूति है कि यदि राजनीति लोगों के अपने ज्ञान पर आधारित हो तभी वे राजनीतिक पहल ले सकते हैं और अपने हित साध सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि स्त्रियों, जातियों अथवा वर्गों के संघर्ष महत्वहीन हो गये हैं। लेकिन यह अर्थ जरूर है कि ये संघर्ष भी लोकविद्या पर आधारित होने चाहिये। यानि वे शोषण और शोषण से मुक्ति के प्रति लोगों की अपनी दृष्टि से चलाये जाने चाहिये। 'पढ़ी-लिखी' महिलायें सभी महिलाओं के नाम पर बात करने का दावा करें और पढ़े-लिखे मजदूर (कर्मचारी) सभी मजदूरों के नाम पर बात करने का दावा करें, इसके दिन पूरे हो चुके हैं।

इस तरह का ज्ञान का दावा पेश करने का समय आ गया है। क्योंकि साइंस और विश्वविद्यालय के वर्चस्व को सभी जगह चुनौती दी जा रही है जिससे नये अवसर पैदा हो रहे हैं। साइंस पर आधारित समाज और पूँजीवाद की कलाई तेजी से खुल रही है क्योंकि इनके चलते दुनियाभर में अधिकतर लोग अभूतपूर्व कष्टों से गुजरे हैं। इसी तरह परिवर्तन की पुरानी राजनीति की कलाई भी खुल गई है। हम नई राजनीति के बारे में कोई बड़ी घोषणायें नहीं कर रहे हैं लेकिन हमारा प्रयास एक ऐसी राजनीति को अस्तित्व में लाने का जरूर है। 20वीं सदी की सभी राजनीतिक धाराओं का साइंस और विश्वविद्यालय में बड़ा विश्वास रहा जो अब संभव नहीं है। इस विश्वास के टूटने के राजनीतिक नतीजे कई जगह दिखाई दे रहे हैं। यूरोप में एक छात्र आन्दोलन खड़ा हो रहा है, जो ज्ञान को विश्वविद्यालय से मुक्त करना चाहता है। दक्षिण अमेरिका में बोलिविया के 'धरती माँ के अधिकार' के ऐलान का सीधा मतलब यह है कि जलवायु परिवर्तन और पर्यावरणीय विनाश की समस्याओं का हल साइंस के पास नहीं है, बल्कि दुनिया के आदिवासियों के पास है।

लेकिन लोकविद्या की राजनीति 20वीं सदी के परम्परा बनाम आधुनिकता को दोहराने का कार्यक्रम नहीं है। उस संघर्ष की अवधारणा ही परम्परा की हार की कल्पना में आधारित थी और इसकी बहुत बड़ी कीमत समाज ने चुकाई है। लोकविद्या हमेशा ही समकालीन समाजों के समकालीन ज्ञान का रूप होती है। ये समकालीन समाज ही जीवन का निर्माण करते हैं और उसे जारी रखते हैं। जब तक राजनीति यह नहीं कहती है कि किसानों और कारीगरों के ज्ञान की विरासत किसी से भी कम दर्जे की नहीं है तब तक विस्थापन विरोधी संघर्ष 'विकास' के

विरोधी नज़र आयेंगे। लोकविद्या जन-आन्दोलन का जन्म तभी होता है जब जन आन्दोलनों के जरिये यह घोषणा की जाती है कि लोगों का ज्ञान और उनका जीवन जीने का तरीका शहरी और कारपोरेट दुनिया से कम दर्जे का नहीं है। यह केवल रोजगार और जीविका बचाने का संघर्ष नहीं है बल्कि एक नये समाज के निर्माण का संघर्ष है।

अन्त में, क्या लोकविद्या के बारे में बात करना 'शिक्षा के खिलाफ' होने के बराबर है? या क्या इसमें बहुमत को कालेज और विश्वविद्यालय के बाहर रखने की साजिश दिखाई देती है? नहीं। लोकविद्या दृष्टिकोण का कहना यह है कि शिक्षा की वर्तमान व्यवस्थायें केवल थोड़े-से लोगों को ही सरकारी या कारपोरेट नौकरी दिला सकती हैं। बल्कि, बहुत बड़ी तादाद में लोग 'इतिहास के प्रतीक्षालय' में रखे जायेंगे। लेकिन अगर यह कहा जाय कि लोगों के पास भी ज्ञान है, वे भी शिक्षा की व्यवस्था बना सकते हैं, स्कूल और विश्वविद्यालय चला सकते हैं और जो भी ज्ञान उनके फायदे का हो उसे अपनी शर्तों पर आत्मसात कर सकते हैं, तब वर्तमान व्यवस्था का आधार और बढ़िया ज़िन्दगी की उसकी इजारेदारी दोनों ही टूट जायेंगे।

ऊपर हमने बहस शुरू करने के लिये कुछ दावे पेश किये हैं। लोकविद्या का दृष्टिकोण राजनीतिक खाका पेश करने से या सभी परिस्थितियों में लागू हो, ऐसी बातें करने से कतराता है। बोलिविया का लोकविद्या आधारित संघर्ष भारत के ऐसे संघर्ष से बहुत अलग किस्म का हो सकता है और होना भी चाहिये। एक दल एक आन्दोलन और एक संस्था की कोई माँग नहीं है।

निम्नलिखित बिन्दुओं पर वार्ता हो सकती है:—

- लोकविद्या और लोकविद्या जन आन्दोलन से हम क्या समझते हैं?
- आज चल रहे संघर्षों को ज्ञान के दृष्टिकोण से देखने का क्या महत्व है?
- क्या लोकविद्या जन आन्दोलन के उदाहरण हमें इतिहास में मिलते हैं?
- क्या भाषा, अस्मिता या जाति के मुद्दों पर हुए आन्दोलन ज्ञान आन्दोलनों के रूप में देखे जा सकते हैं?
- कला, मीडिया और डिजाइन की दुनिया के विद्योगत दृष्टिकोण से आज की दुनिया कैसी दिखती है?
- ज्ञान के उत्पादन से सम्बन्ध रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष विस्थापन विरोधी जन-आन्दोलनों से कैसा सम्बन्ध रखते हैं? इन और इन जैसे और प्रश्नों पर बहस आगे बढ़ाई जानी चाहिये।

सुरियावाँ में ग्रामीण नौजवानों की पंचायत

संतोष कुमार संविज्ञ

लोकविद्या नौजवान सभा की ओर से 26 जुलाई, 2011 को दोपहर 1.00 बजे से यात्री हाल, बावनबीघा, सुरियावाँ, सन्त रविदास नगर, भदोही में ग्रामीण नौजवानों की पंचायत हुई। लगभग 30 नौजवानों की इस पंचायत में निम्नलिखित मुद्दों पर बातचीत हुई:—

1. शिक्षा में प्रवेश परीक्षा समाप्त हो, सभी पढ़ने वालों को उच्च शिक्षा में दाखिला मिले।
2. शिक्षा नीति ऐसी हो कि मनरेगा में काम करने वाला व्यक्ति भी अपने बच्चों को उच्च शिक्षा दिला सके।
3. सभी तरह के रोजगारों तनख्वाहों में 1:5 के अनुपात से अधिक का अन्तर न हो।
4. लोकविद्या को विश्वविद्यालयीय ज्ञान के बराबर प्रतिष्ठा मिले।

पंचायत की शुरुआत करते हुए सन्तोष कुमार संविज्ञ ने कहा कि आजादी के बाद से देश में पूँजीवादी विकास ने गाँवों को उजाड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ा है। जो लोकविद्याधर समाज अपने ज्ञान व श्रम से अपने परिवार, समाज तथा देश के लिए लगातार उत्पादन व सृजन का कार्य करता रहा, पूरे समाज को रोटी, कपड़ा, मकान व सम्मान देता रहा है, उनसे उनका संसाधन छीनने के साथ-साथ उनकी आर्थिक रीढ़ तोड़ी गयी, इतने से भी इन सरकारों का पेट नहीं भरा तो लोकविद्याधरों के घरों के युवाओं को शिक्षा और रोजगार से वंचित रखने का खेल खेला गया।

उच्च शिक्षा में प्रवेश परीक्षा की तैयारी के लिए लाखों रुपये नौजवानों से लिया जा रहा है। शिक्षा को व्यावसायिक बनाने की शुरुआत ही प्रवेश परीक्षा से होती है और ग्रामीण युवाओं को उच्च शिक्षा से बेदखल करने की पहली कड़ी है प्रवेश परीक्षा। देश में समान पाठ्यक्रम लागू करने का कानून बन रहा है। उच्च शिक्षा में अक्सर सभी युवाओं के लिए बराबर होने चाहिए, यह न सरकार की नीति में है न ही शिक्षाविदों के चर्चा में है। प्रवेश परीक्षा समाप्त होने से ही सभी को उच्च शिक्षा में दाखिला मिलेगा।

सरकारी तथा निजी सभी शिक्षण संस्थानों में फीस बढ़ाने की होड़ मची हुई है। शिक्षा मौलिक अधिकार है। सरकार ने मनरेगा के अन्तर्गत मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी तय की हुई है। अब मनरेगा का मजदूर अपने बच्चों को अपने कमाई के बल पर महंगी शिक्षा, चिकित्सा, रोटी कैसे दिला सकता है। सरकार में बैठे बहरे व अंधे लोगों को यह सब दिखाई और सुनायी नहीं देता है। देश में ऐसी शिक्षा नीति बननी चाहिए कि कम-से-कम आमदनी वाला व्यक्ति भी अपने

बच्चों को ऊँची शिक्षा दिला सके। दूसरी तरफ देश में घोटाला, महंगाई, वेतन-वृद्धि, कालेधन की वापसी का सवाल देश की जनता, राजनीतिक दलों एवं बुद्धिजीवियों के सामने बहस का मुद्दा बना हुआ है। इन बहसों का एक सीधा-सा मतलब निकलता है कि देश में कुछ लोगों के पास पैसा बहुत है जिनके आर्थिक अत्याचार के चलते किसान, कारीगर, मजदूर आत्महत्यायें कर रहे हैं। फिर भी सरकारी तंत्र में बैठे लोग यह दावा कर रहे हैं कि हम आर्थिक प्रगति कर रहे हैं। आर्थिक प्रगति तो तभी होगी जब देश के नागरिकों की अर्थव्यवस्था में सन्तुलन होगा। अधिकतम और न्यूनतम आय में कम-से-कम 1:5 से अधिक का अन्तर नहीं होगा। सरकारी कर्मचारी का जो न्यूनतम वेतन है, उतनी कमाई इस देश के सभी नागरिकों की होनी होगी।

मनुष्य और पर्यावरण को केन्द्र में रखकर राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बहस कार्यक्रम संचालित हैं। पिछले कई दशक से पर्यावरणीय सन्तुलन बिगड़ गया है, जीव-जन्तुओं व मानव के अनुकूल नहीं है। मानव के सामने रोटी, शिक्षा, सुरक्षा का सवाल खड़ा है। यह पूरी दुनिया के लिए महत्वपूर्ण सवाल है लेकिन जिनकी नीतियों ने, जिनके ज्ञान ने मानव अस्तित्व के लिए खतरा पैदा किया है वही समस्याओं के समाधान में लगे हुए हैं। उस ज्ञान व नीति के बल पर समस्यायें बढ़नी हैं दूर नहीं होनी हैं। यह वही विश्वविद्यालयीय ज्ञान है जिस ज्ञान से गाँव और शहर के बीच अन्तर बढ़ा, लोकविद्या का तिरस्कार हुआ, हमारे घरों की आमदनी घटी और हम सबका भविष्य अंधकारमय बना। इस ज्ञान को चुनौती देने का वक्त आ गया है। लोकविद्या से न तो पर्यावरण को क्षति हुई न मानव समाज की, बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज को जिन्दा रखने का काम लोकविद्या ने ही किया है। लोकविद्या की प्रतिष्ठा के बगैर देश व समाज से समस्यायें दूर होंगी और न गैर-बराबरी। लोकविद्या को विश्वविद्यालयीय ज्ञान के बराबर प्रतिष्ठा से हमारे घरों की आमदनी बढ़नी है, समाज में सम्मान मिलना है, इसीलिए लोकविद्या नौजवान सभा का गठन किया गया है।

दिनेश गौतम ने कहा—हम सभी नौजवानों को आर्थिक व सामाजिक सवाल पर एकजुट होकर अपने परिवार, अपने समाज की लड़ाई लड़नी होगी। देश में दोहरी शिक्षा नीति ही नहीं पूरा का पूरा कार्यक्रम विकास के नाम पर दोहरा चल रहा है। यही गैर-बराबरी का कारण है। पैसेवालों के लिए स्कूल, अस्पताल, बाजार, मनोरंजन के साधन सब अलग हैं। अगर बराबरी का समाज बनाना है तो सब एक जैसा होना होगा।

अरुण यादव ने कहा—हम नौजवानों का भविष्य पूरी तरह खतरे में पड़ गया है। हमारे घरों के कामों में न पैसा है, न ही सम्मान, नौकरी भी हमारे लिए नहीं है। हम सभी नौजवान क्या करें? हमें अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना चाहिए। हम युवा ही वर्तमान व्यवस्था को चुनौती दे सकते हैं। देश की तस्वीर बदल सकते हैं।

अरविन्द मौर्य—लोकविद्या नौजवान सभा की जो माँगें हैं वो समाज में बुनियादी परिवर्तन ला सकती हैं। इससे बराबरी का सवाल खड़ा होगा और देश में सभी को बराबर अधिकार होना भी चाहिए। इस संगठन का विस्तार किया जाय, आज पूरे देश के लोगों की निगाहें युवाओं पर हैं, हमयुवा देश को बदलने का संकल्प लें। लोकविद्या नौजवान सभा के साथ जुड़े और संघर्ष करें।

ललित नारायण मौर्य—इस देश में सब तरफ आन्दोलन चल रहे हैं। लोग अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे हैं। नौजवानों के लिए शिक्षा और रोजगार का सवाल बुनियादी सवाल है। दोनों को मुहैया कराने में सरकार फेल है। जो हमारे पास है हम उसके लिए संघर्ष करें। अपने घरों के धन्धों को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए एक निर्णायक जंग की तैयारी शुरू करें, तभी भविष्य बनेगा।

कमलेश गौतम—हम ऊँची शिक्षा लेने के बावजूद भी बेकार हैं। उस शिक्षा से अपना जीवन नहीं चला सकते, घर में काम नहीं है, जो है उसका दाम भी उतना नहीं मिलता जिससे आजीविका चले। हमें बड़ी लड़ाई तो लड़नी ही होगी। हम सब उसी की तैयारी कर रहे हैं।

पंचायत में द्वारिका प्रसाद, अच्छेलाल, बाबूराम तथा भुलेश्वर ने भी अपने विचार व्यक्त किये।

अध्यक्ष, रामजी राव ने कहा कि सरकार की गलत नीतियों के कारण ग्रामीण नौजवानों का भविष्य पूरी तरह खतरे में पड़ गया है। शिक्षा और रोजगार के अक्सर समाप्त कर दिये जा रहे हैं। उच्च शिक्षा में प्रवेश के नाम पर नौजवानों को लूटा जा रहा है जबकि वह पढ़ाई पढ़ने के बाद नौजवान हजार रुपये कमाने के लायक भी नहीं बन पाता है, ये हाल है शिक्षा का। ग्रामीण नौजवानों के लिए सरकार के पास कोई रास्ता नहीं है। वहीं दूसरी तरफ लाखों रुपये महीने वेतन बाँटे जा रहे हैं। इतने बड़े आर्थिक विभाजन में देश विभाजित ही होता जायेगा। हम सभी को देश बचाने की बात करनी होगी। हमें एकजुट होकर अपने हक व अधिकार के लिए लड़ना चाहिए।

पंचायत में सन्तोष कुमार संविज्ञ को लोकविद्या नौजवान सभा का संयोजक तथा रामजी राव को सह-संयोजक बनाया गया और अन्त में यह निर्णय लिया गया कि अगस्त माह में लोकविद्या नौजवान सभा की जिला मुख्यालय, ज्ञानपुर में पंचायत लगायी जायेगी।

वाराणसी के किसानों में रोष प्रशासन का किसानों की जमीन छीनने का अभियान

लक्ष्मण प्रसाद, जिलाध्यक्ष, भा. कि. यू., वाराणसी

इस समय देशभर में बड़े पैमाने पर जमीन हड़पने का कार्यक्रम चल रहा है। किसानों की कृषियोग्य भूमि छीनी जा रही है। आदिवासियों की बस्तियाँ उजाड़ी जा रही हैं। देश में विकास का डंका पीटा जा रहा है। फ्लैट और कालोनियाँ बनाने के लिए, हाइटेक बाजार बनाने के लिए, सेज बनाने के लिए, पर्यटन स्थल बनाने के लिए, पावर प्लांट बनाने के लिए, एल्यूमीनियम और स्टील प्लांट बनाने के लिए, कोयला-लोहा इत्यादि खनिज निकालने के लिए, बड़े-बड़े हाइवे बनाने के लिए तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों के लिए जमीन छीनने का कार्यक्रम चल रहा है। एक बात समझना बहुत कठिन लगता है कि देश में विकास का डंका पीटा जा रहा है और इस विकास में किसानों और आदिवासियों को उजाड़ा भी जा रहा है। क्या विकास के इस मॉडल में सिर्फ बुद्धिजीवी, राजनेता, बड़े व्यापारी व उद्योगपति तथा शासन व सत्ता के ईर्द-गिर्द मंडराने वाले लोग मालामाल होंगे और बाकी का मेहनतकश तबका भूखा-नंगा होकर उनका सेवक बना रहेगा?

वाराणसी में भूमि अधिग्रहण, विस्थापन तथा संघर्ष एवं संगठन की वास्तविक स्थिति

वाराणसी जिले में विभिन्न परियोजनाओं के तहत किसानों से जमीन हड़पने का कार्य किया जा रहा है। इन्हें निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत ठीक से समझा जा सकता है।

सीवर के मल-जल का निस्तारण

शहर के मल-जल निस्तारण के लिए वाराणसी में पहले से ही दो जगहों पर सीवेज ट्रीटमेण्ट प्लांट बैठाये जा चुके हैं। लगभग 35 एकड़ जमीन लेकर बी.एच.यू. के पास भगवानपुर गाँव में सन् 1980 के आसपास तथा 49 एकड़ जमीन लेकर चिरईगाँव ब्लाक के दीनापुर गाँव में सीवेज ट्रीटमेण्ट प्लांट के लिए सन् 1986 में जमीन अधिग्रहित की गयी। दीनापुर में बना सीवेज ट्रीटमेण्ट प्लांट आज की तारीख में पूरी तरह से फेल है। गाँव की जमीन ली गयी, किसान आज तक उचित मुआवजा के लिए कोर्ट में मुकदमा लड़ रहे हैं, गाँव का पर्यावरण बर्बाद हुआ। जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण से लोग त्रस्त हैं।

सथवाँ गाँव

विगत कुछ वर्षों से एक नये सीवेज ट्रीटमेण्ट प्लांट का प्रस्ताव शासन-प्रशासन द्वारा सथवा गाँव में लाया गया। इस गाँव में 108 एकड़ जमीन अधिग्रहित होनी थी। इस गाँव में भारतीय किसान यूनियन की दखल लगभग छः वर्षों से रही है। पंचायतों और वार्ताओं का दौर चलता रहा है। प्रशासन ने बड़ी चालाकी से सीवेज ट्रीटमेण्ट प्लांट बनाने की रणनीति बनायी। शहर के सभी प्रमुख मार्गों पर गहरी खुदाई करके बड़ी-बड़ी पाइप लाइन बिछाने का काम सालों चलाया गया। सथवाँ गाँव तक पाइप लाइन बिछ जाने के बाद विगत अक्टूबर-नवम्बर माह में भूमि अधिग्रहण की धाराएँ प्रकाशित कर दी गयीं। धारा के प्रकाशन हो जाने के बाद गाँव में बौखलाहट बढ़ गयी। सथवाँ गाँव की जागरूक महिला यशोदा पटेल के नेतृत्व में संघर्ष का ऐलान हुआ। भारी संख्या में गाँव की महिलाएँ लामबन्द हुईं। किसान संघर्ष समिति, सथवाँ के बैनर तले यह संघर्ष 15 अप्रैल, 2011 से गाँव में अनिश्चितकालीन धरना के माध्यम से शुरू हुआ। भारतीय किसान यूनियन भी अपना पूरा समर्थन देते हुए संघर्ष में ताकत फूँका।

8 जून, 2011 को भा. कि. यू. द्वारा एक दिवसीय शिविर भी आयोजित किया गया। यूनियन के सैकड़ों कार्यकर्ता एवं पदाधिकारी इस शिविर में शामिल हुए। इस शिविर में भा. कि. यू. वाराणसी मण्डल अध्यक्ष श्री जगदीश सिंह यादव ने ऐलान कर दिया कि जब तक सथवाँ में जमीन का संघर्ष जीत नहीं लिया जाता तब तक मैं अपने गृह जनपद चन्दौली की धरती पर कदम नहीं रखूँगा। अन्ततोगत्वा धरना के 59वें दिन प्रशासनिक अधिकारी आकर सथवाँ गाँव में सीवेज ट्रीटमेण्ट प्लांट न लगाने तथा भूमि अधिग्रहण की धारा-4, 6 (17) को निरस्त करने के लिए अपनी संस्तुति उ. प्र. शासन को भेजने का लिखित रूप में आश्वासन दिये। इस प्रकार सथवाँ में किसानों की जीत हुई।

रमना

काशी विद्यापीठ ब्लाक स्थित रमना गाँव में भी सीवेज ट्रीटमेण्ट प्लांट बनाने का प्रस्ताव है। इसके लिए लगभग 350 एकड़ जमीन अधिग्रहित की जा चुकी है। रु. 78,000/- प्रति बिस्वा की दर से मुआवजा भी वितरित किया जा चुका है। भारतीय किसान यूनियन यहां के किसानों के साथ वार्ता में है।

करसड़ा

काशी विद्यापीठ ब्लाक के करसड़ा गाँव में कूड़ा डम्पिंग प्लांट के लिए सन् 2008 ई. से भूमि अधिग्रहण की कार्रवाई शुरू हुई। कुल 70 बीघे जमीन पर बनाये जा रहे कूड़ा डम्पिंग प्लांट में गाँवसभा की लगभग 10 बीघे जमीन शामिल है। 60 बीघा जमीन लगभग 70 किसानों की है। 20 किसान दलित हैं जिन्हें कृषि के लिए जमीन आवंटित की गयी थी। आवंटित जमीन को प्रशासन ने चालबाजी तथा दलालों के माध्यम से मात्र 4,000/- रुपये प्रति बिस्वा की दर से मुआवजा देकर हड़प लिया। बाकी के किसानों ने विरोध किया। जमीन न देने के लिए कोर्ट गये, तब प्रशासन ने पैतार बदलते हुए मुआवजे का दर बढ़ाकर 32,000/- रुपये प्रति बिस्वा कर दिया। कुल 20 किसानों ने मुआवजा लिया शेष 50 किसान शुरू से ही

जमीन न देने के लिए अड़े हैं। इसके बावजूद नगर निगम ने फोर्स लगवाकर जमीन घेरने तथा खुदाई करवाने का कार्य शुरू किया।

गाँव के जागरूक किसान भृगुनाथ सिंह, चुन्नी लाल, बच्चे लाल, रामू पाल इत्यादि सथवाँ तथा कटेसर के किसान आन्दोलन में भी भाग ले चुके हैं। ये भारतीय किसान यूनियन के साथ इनकी पकड़ मजबूत बन चुकी थी। गाँव में भारतीय किसान यूनियन की पंचायत भी करायी गयी। पंचायत में ही यह निर्णय लिया गया कि प्रशासन को सूचना देकर दिनांक 29 जून से कूड़ा डम्पिंग प्लांट व भूमि अधिग्रहण के खिलाफ अनिश्चितकालीन धरना भारतीय किसान यूनियन के बैनर तले दिया जायेगा। इस समय करसड़ा गाँव में धरना जारी है।

ट्रान्सपोर्ट नगर

कुल चार गाँवों—मोहन सराय, बैरवन, मिल्की चक और करनाडांडी की 214 एकड़ जमीन पर ट्रान्सपोर्ट नगर बनाने के लिए विकास प्राधिकरण ने सन् 2003 में भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया के अन्तर्गत अभिलेखों से किसानों का नाम काटकर विकास प्राधिकरण का नाम दर्ज करा दिया। इस योजना में कुल 1292 किसान प्रभावित होंगे। ट्रान्सपोर्ट नगर विरोधी किसान संघर्ष समिति धरना-प्रदर्शन अनशन आदि माध्यमों से भूमि अधिग्रहण का विरोध करती रही है। श्री राधारमण मिश्र इस समिति के अध्यक्ष हैं। मेवालाल पटेल, विजय गुप्ता, प्रेम गुप्ता, श्रीमती बीना श्रीवास्तव (ग्रामप्रधान-मोहनसराय, छेदी बाबाजी इत्यादि लोग इस समिति के जुझारू कार्यकर्ता हैं। भारतीय किसान यूनियन इस संघर्ष में सहयोगी की भूमिका में रहा है। एक तरफ संघर्ष जारी है तो दूसरी तरफ दलाल भी सक्रिय हैं। ये दलाल किसानों के बीच जाकर उन्हें मुआवजा लेने के लिए प्रेरित कर रहे हैं।

सांस्कृतिक नगर कटेसर और डोमरी

सांस्कृतिक नगर बनाने के लिए गंगाजी के तट पर स्थित कटेसर गाँव की 44 हेक्टेयर जमीन तथा डोमरी गाँव की 141.574 एकड़ जमीन अधिग्रहित करने का कार्यक्रम पिछले वर्षों प्रस्तावित रहा। डोमरी गाँव के लोग किसान संघर्ष समिति के माध्यम से विरोध करना शुरू किये। धरना-प्रदर्शन का दौर चला। तत्कालीन ग्रामप्रधान श्रीमती चम्पा देवी का नेतृत्व मिला। गाँव के बिन्द्रा पटेल, लालचन्द पटेल, छेदी लाल, राजेन्द्र प्रसाद इत्यादि सक्रिय एवं जुझारू लोगों के ताकत से आन्दोलन तेज हुआ। अभी डोमरी गाँव का आन्दोलन चल ही रहा था कि प्रशासन ने कटेसर गाँव में भूमि अधिग्रहण की धारा-4, 6 का प्रकाशन कर दिया। अब संघर्ष का स्थान बदलकर कटेसर हो गया। किसान संघर्ष समिति, कटेसर बनाकर किसानों ने सड़क पर धरना की शुरुआत कर दी। भारतीय किसान यूनियन यहाँ भी सहयोगी की भूमिका में रहा। धरना के दरम्यान वाराणसी आयुक्त से एक चक्र समझौता वार्ता भी हुआ। समझौता के अनुसार वाराणसी आयुक्त सांस्कृतिक नगर योजना वापस लेने पर सहमत थे, किसानों ने अपना धरना स्थगित कर दिया। परन्तु वार्ता के अनुरूप कार्य नहीं हुआ। अतः किसानों ने धरना 24 मई से पुनः शुरू कर दिया। गाँव के तीन लोग धरनास्थल पर चिता लगाकर जलकर आत्महत्या करने पर अड़ गये। अन्ततोगत्वा दिनांक 31 मई, 2011 को प्रशासन को झुकना पड़ा और लिखित रूप में देना पड़ा कि कटेसर गाँव से भूमि अधिग्रहण की धारा 4, 6 को वापस करने की संस्तुति प्रदेश सरकार को भेजी जायेगी।

पर्यटन स्थान : बरईपुर

सारनाथ से सटे बरईपुर गाँव में किसानों की 84 बीघा जमीन है जिसपर पर्यटन विभाग द्वारा लोटस पार्क एवं नगर निगम द्वारा वाटर टैंक बनाने का कार्यक्रम है। इस पर कुल लगभग 100 किसान परिवार निर्भर है। इस गाँव के लोग कई वर्षों से भारतीय किसान यूनियन से जुड़े रहे हैं। जून माह में अचानक जे.सी.बी. मशीन द्वारा खुदाई शुरू हुआ। गाँव के लोग भारतीय किसान यूनियन के बैनर तले संगठित होकर जे.सी.बी. मशीन से चल रहे कार्य को रुकवा दिये। समय-समय पर प्रशासन जे.सी.बी. मशीन लगाकर खुदवाने का प्रयास करता है और हर बार गाँव के किसान और महिलाएँ कार्य को रोकती रहती हैं। ज्ञातव्य हो कि पिछले 10-15 वर्षों से प्रशासन ने धीरे-धीरे एक-एक करके सभी किसानों का नाम अभिलेखों से हटवाकर नगर निगम का नाम दर्ज करा दिया है। गाँव के लोग इसके विरुद्ध किसान पंचायतों का सिलसिला चला रहे हैं। भगवत्री देवी के नेतृत्व में यहाँ का संघर्ष चल रहा है। राधा देवी, सुदामा देवी, प्रेमा देवी, चन्द्रावती देवी, गंगाजली देवी, खनमन राजभर, सतीश कुमार, राम प्रसाद, कल्लू मास्टर, रामलखन इत्यादि लोग उत्साह के साथ संघर्ष चला रहे हैं।

गंगा एक्सप्रेस-वे

गंगा से नोएडा बनने वाली गंगा एक्सप्रेस-वे वाराणसी के बीच से प्रस्तावित है। अगर यह योजना मूर्त रूप लेती है तो पचासों गाँवों के किसान बर्बाद हो जायेंगे। 8 लेन की यह सड़क बहुत ज्यादा चौड़ी होगी। गंगा एक्सप्रेस-वे के विरुद्ध स्वतः स्फूर्त ढंग से किसान लामबन्द हो रहे हैं। भारतीय किसान यूनियन भी प्रभावित क्षेत्रों का दौरा करके लोगों को लामबन्द करने का प्रयास कर रहा है।

रिंग रोड

शहरी सीमा के बाहर-बाहर रिंग रोड बनवाने का प्रस्ताव है। इसके लिए भी जमीनें अधिग्रहित की जा रही हैं। कुछ क्षेत्रों में

मुआवजा भी वितरित किया जा चुका है। रिंग रोड के विरोध में जगह-जगह से विरोध का स्वर भी फूटने लगा है।

विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज)

वाराणसी और भदोही सीमा पर सन् 2002 से सेज बनाने के लिए भूमि अधिग्रहण की कार्यवाही को अंजाम देने में प्रशासनिक अधिकारी लगे हुए हैं। 5 गाँवों की कुल 210 हेक्टेयर जमीन अधिग्रहित करने की सरकार की योजना है। खेत बचाओ संघर्ष समिति बनाकर यहाँ के किसान सेज के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं।

सीटू के प्रदेश अध्यक्ष श्री कमलापति त्रिपाठी को इस संघर्ष समिति का अध्यक्ष बनाया गया है। भा. क. पा. नेता इन्द्रदेव पाल और मजदूर नेता रऊफ अंसारी आन्दोलन के मददगार हैं। सेज के विरोध में वाराणसी-जंघई रेलखण्ड पर चक्का जाम तथा वाराणसी-भदोही मार्ग पर धरना दिया जा चुका है। क्रमिक धरना तथा विरोध के अन्य तरीके भी अपनाये जा रहे हैं। किसान अपनी जमीन न देने पर अड़े हैं। इस संघर्ष के नेता व किसान जयप्रकाश जी से भारतीय किसान यूनियन की वार्ता हुई है। क्षेत्र के अन्य किसानों से भी वार्ता हुई है।

किसान की ताकत कहाँ है?

ऐसे समय में जबकि किसान के सारे हक एवं अधिकार छीने जा रहे हैं। किसानों से उनकी जमीन छीनी जा रही है। उनके उपज का उचित दाम नहीं मिल रहा है। किसानों और गाँववासियों को बाजार से बेदखल किया जा रहा है। आज की अत्याधुनिक शिक्षा एवं शासन की व्यवस्था में उनके लिए कोई जगह नहीं है। शासन-प्रशासन में बैठे लोग इनकी बातों को सुनने एवं विचार करने की मनोदशा में नहीं हैं। आज की न्याय व्यवस्था में न्यायालय से रंचमात्र भी उम्मीद नहीं है। ऐसे दुरूह समय में किसान और गाँववासी अपनी ताकत कहाँ देख रहे हैं इस पर अवश्य विचार होना चाहिए।

आज की कम्प्यूटर, अंग्रेजी और साइंस की दुनिया ने लोक का अपमान किया है। किसानों और कारीगरों के जिस ज्ञान के बल पर पूरे समाज को भोजन, वस्त्र, इत्यादि उपलब्ध होता है, उस ज्ञान के धारकों को खूँ और गँवार माना गया है। लोगों की शक्ति को समाप्त करने के लिए आज की अंग्रेजी, कम्प्यूटर और साइंस की दुनिया ने लोक के ज्ञान और विद्या को नकारा है। ऐसे में एक बात समझने की जरूरत है कि व्यापक ग्रामीण समाज अत्याधुनिक ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश नहीं पा सकता तो उसके पास किसान और कारीगर के रूप में जो भी ज्ञान है, वही उसके मुक्ति का ज्ञान है। उसी की प्रतिष्ठा से वह अपने अन्दर ताकत देख सकता है। उसी की प्रतिष्ठा से वह अपने दावे के साथ अपने अधिकार की भी बात कर सकता है।

किसान संगठन की आवश्यकता

संगठन की ताकत बड़ी ताकत है। भा. कि. यू. के संस्थापक चौधरी महेन्द्र सिंह टिकैत लम्बे समय तक सरकारों को बाध्य करके किसानों की बात मनवाते रहे। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि किसानों की संख्या के बल पर बड़ी से बड़ी माँग भी मनवायी जा सकती है। संगठन के लिए थोड़ा धन, समय अवश्य खर्च करना पड़ता है। यह त्याग व्यर्थ नहीं जाता। निश्चित रूप से आज की अन्यायी व अत्याचारी व्यवस्था से मुकाबला करने के लिए मजबूत संगठन आवश्यक है।

आंध्र में धान की बोवाई पर सरकारी ग्रहण

आंध्र प्रदेश के पश्चिम गोदावरी और पूर्वी गोदावरी जिले के किसानों ने इस साल धान न बोना तय किया है। वे कहते हैं कि हम नरेगा में काम कर लेंगे। बोने से क्या फायदा जब हम बेच ही नहीं पाते हैं और आत्महत्या के अलावा कोई रास्ता ही नहीं बचता। इसे 'फसल की छुट्टी' कहा जा रहा है। कहा जा रहा है कि लगभग एक लाख एकड़ जमीन परती छोड़ी गई है। वहां के किसान संगठनों के समन्वय के महासचिव की सिर्फ पूर्वी गोदावरी जिले में एक लाख तैंतीस हजार एकड़ जमीन पर किसान बोवाई नहीं कर रहा है। और यह कि इससे छोटे स्तर पर 'फसल छुट्टी' की खबर पश्चिम गोदावरी, प्रकासय और कुर्नूल जिलों से आ रही है। ये सब समुद्र के तटवर्ती जिले हैं। सरकार मान रही है कि करीब पैंतीस हजार एकड़ पूर्वी गोदावरी से परती छोड़ी गई है। किसानों की दो प्रमुख मांगें हैं—एक यह कि न्यूनतम समर्थन मूल्य के लिए स्वामीनाथन फार्मूला लागू किया जाय, जिसके अनुसार किसान को कम-से-कम उत्पादन की लागत में उसका 50 फीसदी जोड़कर दिया जाना चाहिए और दूसरी यह कि सारा उत्पादन सरकार खरीदे।

6 फुट 5 इंच कद का खतरा : ओसामा का बोझ

ओसामा बिन लादेन के मारे जाने के बाद टी.वी. पर अमेरिका के नौजवानों द्वारा सुपरमैन और अन्य सुपर हीरो जैसे वस्त्र पहनकर जश्न मनाने के प्रसारण के बाद मैंने यह लिखा। बिन लादेन की ऊँचाई 6 फुट 5 इंच थी और वह हमेशा अपने वफादारों की सुरक्षा के घेरे में रहता था। ऐसी स्थिति में सालों तक उसे पहचाना नहीं जा सका, यह बड़े अचरज की बात है।

फिर भी हमारे यह समझ में नहीं आता कि किसी एक व्यक्ति से अमेरिका को इतना डर कैसे लग सकता है कि अपनी सारी जासूसी टेक्नालाजी और कमाण्डो ताकत का इस्तेमाल करके इतना रहस्यमयी ढंग से और जल्दी से इसे इतना तिरस्कार के साथ एक आतंकवादी की तरह मार डाला जाय। और वह भी बुश जैसे पूर्व-राष्ट्रपति के एक दस सालाना वायदे को पूरा करने के लिए।

टावरों के गिरने के पहले मैं ओसामा बिन लादेन से परिचित नहीं था। उसके नाम ने मेरे जीवन को प्रभावित किया क्योंकि मेरे इज्जतदार पड़ोसी उससे बहुत डरते थे। ओसामा की तुलना में ये लोग बहुत छोटे थे, बहुत ही छोटे।

यह कहानी ओसामा से चाहे सीधा सम्बन्ध न रखती हो किन्तु छोटे लोगों की मनःस्थिति की एक झलक प्रस्तुत करती है।

हुआ यह कि मेरा एक दोस्त था जो ओसामा की तरह ही दुबला, लम्बा और दाढ़ीवाला और ओसामा से ज्यादा बदमाश दिखता था। यह कोई मुश्किल बात नहीं थी क्योंकि ओसामा निश्चित ही गोवा के चर्च के सन्त फ्रांसिस जेवियर की मूर्तियों से अधिक पवित्र दिखता था। मुझे तो ओसामा यूरोप के पुनर्जागरण के कलाकारों द्वारा कल्पित सफेद ईसा मसीह जैसा दिखता, अंतर केवल इतना था कि ओसामा के बाल सुनहरे नहीं थे। मेरा यह दोस्त मुझे मिलने उस हाउसिंग सोसाइटी में चला आया जहाँ मैं रहता था उस वक्त गेट पर सुरक्षा बही में दस्तखत करना ज्यादातर लोगों को बड़ा गुस्सा दिलाने वाला था और नौजवान उसका तरह-तरह का मजाक उड़ाते थे। मेरे दोस्त की लड़की ने, जो मुश्किल से 12-13 साल की रही होगी उसने लिख दिया ओसामा बिन लादेन और परिवार।

हमारी हाउसिंग सोसाइटी के कमेटी के सदस्य इसी मौके का इन्तजार कर रहे थे क्योंकि उनके काम करने के तरीके पर मैंने जैसा मुझे लगा वैसी अपनी कुछ सच्ची प्रतिक्रियायें दे दी थीं। आधी रात को एक पुलिस इन्स्पेक्टर कमेटी के कुछ सदस्यों के साथ आया और कहने लगा कि मुझे थाने चलना होगा क्योंकि मैं भयानक आतंकवादी ओसामा बिन लादेन से सम्बन्ध रखता हूँ और जो हमारा अतिथि रहा जैसाकि रजिस्टर में दर्ज है। मैं गहरी नींद में सोया था और इस तरह जगाये जाने पर मुझे बहुत गुस्सा आया। मैं आधे-अधूरे कपड़ों में अपने ढीले पजामे को एक हाथ से पकड़कर पुलिस अफसर के पीछे चला। हाउसिंग कमेटी के सदस्य अपने परिवारों और मित्रों के साथ मुझे थाने की ओर घसीटा जाना देखने के लिये पहले से उपस्थित थे। मेरा गुस्सा सातवें आसमान पर था। मैंने अपने दूसरे हाथ से उन्हें ललकारा, शायद एक मोटे कमेटी मेम्बर को कालर से पकड़ भी लिया, जबकि ऐसा करने में मेरा पजामा गिर जाने का खतरा भी था। मैंने यह भी कहा कि अगर वे आदमी हों तो एक-एक कर आ जायें। इन्स्पेक्टर को समझा-बुझाकर वापस भेजकर मैं अपने घर सोने चला गया।

यह मेरी जिन्दगी पर ओसामा का सबसे कष्टदायी असर था। ओसामा बिन लादेन 6 फुट 5 इंच लम्बा था, तो जाहिर है उसे भेष बदलकर छिपने में दिक्कत आती। बुरका पहनकर नाच-गाने वालों में तो शामिल नहीं ही हो पाता। इसलिये उसे बदले हुए भेष में खोजने का कोई अर्थ नहीं था। केवल एक बात हो सकती थी कि वह

दाढ़ी बना लेता। ओसामा बिन लादेन ने दाढ़ी नहीं बनाई शायद इसलिये कि उसके अनुयायी उसे पहचान नहीं पाते।

अमेरिका के वैज्ञानिकों ने आदमी की परछाई से उसकी लम्बाई तय करने का विज्ञान बड़ी बारीकी से विकसित किया। अफगानिस्तान के आदिवासी क्षेत्रों के ऊपर कैमरे लगे हुए हेलीकाप्टर घूमते रहते थे। वे एक ऐसे 6 फुट 5 इंच के आदमी को खोज रहे होते थे जो कुछ लोगों की अगुवाई कर रहा हो। उन्हें ऐसे आदमी को तुरन्त मिसाइल और राकेट से मार देने की हिदायत थी। अमेरिका इसे एक युद्ध के रूप में देखता था। और इस कार्य को पूरी वैज्ञानिक और फौजी कार्यक्षमता के बल पर अंजाम देना चाहता था।

मेरा एक काल्पनिक दोस्त जो 6 फुट 5 इंच का था ओसामा के मारे जाने की खबर के बाद राहत की साँस लेते हुए आया। उसकी लम्बाई काफी कम मालूम पड़ रही थी। जिस वक्त ओसामा दुनिया के परदे पर प्रकट हुआ उस वक्त वह रेडियो के कलाकारों को हिन्दी फिल्मी गीत सिखाने के लिये अफगानिस्तान गया हुआ था। उसे समझ में आया कि वह अपनी लम्बाई की वजह से भयानक खतरे में था। उसने ऊँची एड़ी के जूते पहनना शुरू किया जिससे कि वह 7 फुट का हो जाये और अमेरिकी कैमरों की पकड़ में न आये। एक सुरंगी विस्फोट में उसका एक पैर उड़ गया। अमेरिकी कैमरों की वजह से उसकी जिन्दगी पर इतना खतरा था कि उसने अपना दूसरा पैर भी कटवा दिया और कृत्रिम पैरों के सहारे वह अपनी मूल खतरनाक लम्बाई से 3-4 इंच कम हो गया।

मेरे कल्पित मित्र ने ओसामा की खबर पढ़ी और उसे दरकिनारा कर दिया। वह अफगानिस्तान में कई 6 फुट 5 इंच वालों के साथ रह चुका था, जो अमेरिकी सेना द्वारा उन्हें बिन लादेन करार देकर जबर्दस्ती पकड़ ले जाने से डरे रहते थे। उसने कहा आजकल तो कई ओसामा बिन लादेन हैं, जो अमेरिका की जेलों में कड़ी सुरक्षा में बन्द हैं।

उसने कहा कि असली ओसामा बिन लादेन तो बहुत पहले ही अफगानिस्तान की पहाड़ियों में बमबारी में मारा गया। लोगों को यह विश्वास दिलाना मुश्किल था कि ओसामा जिन्दा है। मुशर्रफ ने भी कहा कि बिन लादेन मर चुका है। दोनों ही तरफ वालों को इसमें फायदा नज़र आया कि बिन लादेन को जिन्दा रखा जाय। इससे हथियारों के कारखानों के मुनाफे जारी रहें, टी.वी. चैनल वालों को भी ओसामा के टेप जारी करके मजे का मुनाफा होता रहा।

बिना कुछ कहे ही मेरा यह 6 फुट 5 इंच का काल्पनिक दोस्त बहुत कुछ कह गया। उसने क्या-क्या कहा इसकी कल्पना मैंने की। पहली चीज उसने यह कही कि हिन्दुस्तान की राजनीति में 6 फुट 5 इंच का कोई नेता नहीं है। अपना ऐसा अन्तिम नेता तो बलूचिस्तान के खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ साहब थे। आपके अब के खान तो 5 फुट 6 इंच वाले हैं!

ओसामा बिन लादेन पर हमले की योजना बनाने में कई दिन लगे और इस तरह अति रहस्यमय ढंग से किये गये इस हमले से किसी को

कहाँ जा रहे हो

अरे राहगीरों ठहरो, रुको तुम।
कहाँ जा रहे हो ये कैसा सफ़र है।
न आगे शहर है न आगे डगर है।
जहाँ जा रहे हो कहर ही कहर है।।

ये किसने दिखाया तुम्हें रास्ता है,
नहीं इससे कोई तेरा वास्ता है।
ये शैतानियत ने रचा ताना-बाना,
अब आगे को राही कदम न बढ़ाना।
सुनसान घाटी घना है अंधेरा, गहरी है खाई
क्या इसकी खबर है।।

नई सभ्यता है पूरा छलावा,
नहीं इसमें कुछ भी पतन के अलावा।
बर्बाद करने तेरी जिंदगी को,
घर-घर बहाया इसी गंदगी को।।
जिसे पार जाने की समझे हो नौका,
वो लहरों में छिपकर बैठा मगर है।।

अभी जान सकते अभी जान लो तुम,
अभी मान सकते अभी मान लो तुम।
बड़ी मुश्किलों से है बनता ठिकाना।
मिटाओ न अपना बना आशियाना।।

ऊँची इमारत है ठगों का डेरा।
पुरखों की कुटिया तेरा प्यारा घर है।।

अरे राहगीरों ठहरो रुको तुम,
कहाँ जा रहे हो ये कैसा सफ़र है।।

क्षेत्रपाल सिंह "भारती"
ग्राम व पो. छवाकर, जिला-झाँसी, उ.प्र.

कुछ मिला हो ऐसा नहीं लगता है कि सिवाय इसके कि ऐसे प्रचार से ओसामा को लाभ हुआ हो। जिस घर में ओसामा को मारने की बात कही गई वह पाकिस्तान के फौजी इलाके में है, उसे आसानी से घेरा जा सकता था और ओसामा को पकड़ा जा सकता था तथा इस सबकी साफ विडियो फिल्म बनायी जा सकती थी।

ओसामा को गिरफ्तार करके उसपर मुकदमा चलाने का ज्यादा असर लोगों पर पड़ता जैसाकि दूसरे विश्वयुद्ध के बन्दियों पर न्यूरेम्बर्ग में मुकदमा चलाकर किया गया। वे शायद उस गलती को नहीं दोहराना चाहते थे जो उन्होंने सद्दाम हुसैन की फाँसी को दिखाकर की क्योंकि अन्तिम क्षण तक सद्दाम की गर्दन नहीं झुकी।

कहा गया कि अमेरिकी कमाण्डों के साथ गोलीबारी में ओसामा बिन लादेन ने खुद हिस्सा लिया। आत्मरक्षा में ओसामा को मारने और किसी न्यायालय के समक्ष पेश न करने का यह बढ़िया बहाना हो सकता था। प्रकट तौर पर अमेरिका के लोग निष्पक्ष जाँच और अदालती कार्यवाही के पक्षधर हैं, यही ओसामा ने कहा था जब उसने यह इच्छा जाहिर की थी गुमांतनामो खाड़ी में रखे गये इराकी युद्धकैदियों की निष्पक्ष अदालती कार्यवाही पूरी दुनिया देखे।

ओसामा बिन लादेन को सिर में गोली मारी गई। मेरे ख्याल से कमाण्डो का प्रशिक्षण इतना बढ़िया था कि ओसामा की एक भी गोली उन्हें नहीं लगी और उन्होंने आराम से ओसामा के पास जाकर उसके सिर में गोली मार दी। अगर मैं इतना भोला-भाला न होता तो मैं सोचता कि ओसामा के सिर में गोली इसलिये मारी गई कि उसकी पहचान न की जा सके।

राष्ट्रपति ओसामा ने सार्वजनिक तौर पर यह वादा किया था कि ओसामा को उसके धर्म के अनुसार सही मुसलमान तरीके से दफनाया जायेगा। ओसामा के शरीर को जल्दी से हेलीकाप्टर से उड़ाकर ले जाया गया और समुन्दर में डुबो दिया गया। बारीक और विस्तृत योजना का एक सुन्दर उदाहरण!

केवल समुन्दर का महान विस्तार ही उस 6 फुट 5 इंच के आदमी के लिये काफी हो सकता था जिसे छोटे लोगों की दुनिया ने एक आतंकवादी के रूप में देखा। उसका कद और उसका व्यक्तित्व ही शायद उसका बोझ था।

[यह कहानी <http://caprarius-aquacorn.blogspot.com> से ली गई है। इसका यहाँ स्थान की सीमा के चलते संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद किया गया है। -सम्पादक]

किसान, कारीगर, आदिवासी, छोटा दुकानदार एक हों

क्योंकि

सूचना युग में कम्प्यूटर-इंटरनेट और वैश्वीकरण मिलकर किसान, कारीगरी, छोटी दुकानदारी को उजाड़ रहे हैं, मज़दूरी को घटा रहे हैं।

कैसे?

1. इनके श्रम को बाजार में कम दाम देकर
2. इनके ज्ञान यानि लोकविद्या को लूटकर
3. शिक्षा को महंगी बना कर व इन्हें नये ज्ञान से वंचित कर

आइए

1. लोकविद्या के बल पर जीविका के अधिकार का दावा करें।
2. सूचना युग में श्रम और ज्ञान की लूट को रोकने के उपाय खोजें।
3. बाजार और ज्ञान के क्षेत्र में हो रहे शोषण की समझ और विरोध को आकार दें।

बुक पोस्ट

झारखण्ड का कुडुख लोकगीत राजाओं का भार

हे प्रिय देवर
तुम राजाओं का भार ढोने नहीं जाओगे
भले ही इस भार के पैसे मिलते हैं,
लेकिन फिर भी तुम
भार ढोने नहीं जाओगे

हे मेरे छोटे भाई, तुम अतिप्रिय हो
तुम राजाओं का भार ढोने नहीं जाओगे
भले ही यह भार रुपयों का होता है
फिर भी तुम भार ढोने नहीं जाओगे
भार ढोने नहीं जाओगे।

हे मेरे प्रिय बड़े भैया
तुम जमींदारों का भार ढोने नहीं जाओगे।
भले ही इनका भार ढोने से रुपये
मिलते हैं, फिर भी तुम
भार ढोने नहीं जाओगे।

साझी विरासत पुस्तिका-13,
आई.एस.डी. प्रकाशन, दिल्ली से साभार